ISSN : 0435-1460
UGC Care List No. 25

के.हि.सं. गवेषणा

अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषाशिक्षण तथा साहित्य चिंतन की त्रैमासिक शोध - पत्रिका

अंक-124 : चैत्र-ज्येष्ठ, 2078 / अप्रैल-जून, 2021

हिंदी भाषा
हिंदी साहित्य
हिंदी भाषा विज्ञान
हिंदी भाषा शिक्षण
हिंदी शोध संदर्भ
हिंदी भाषा अनुशीलन
हिंदी साहित्य चिंतन
भाषिक विश्लेषण
भाषिक अनुप्रयोग
साहित्यिक विवेचना
प्रयोजनमूलक हिंदी
हिंदी भाषा शैली
प्रयुक्तिपरक हिंदी
हिंदी भाषा संरचना
हिंदी व्याकरण
हिंदी भाषा व्यवहार
समाज भाषा हिंदी
मीमांसा टीका
भाषिक विमर्श
भाषिक समीक्षा

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

पद्मभूषण डॉ. मोटूरि सत्यनारायण

(2 फरवरी, 1902 – 6 मार्च, 1995)

आंध्र प्रदेश के कृष्णा जिले के दोण्डपाडु ग्राम में जन्मे, केंद्रीय हिंदी संस्थान के संस्थापक, हिंदी सेवी, पद्मभूषण श्री मोटूरि सत्यनारायण जी भारतीय संविधान सभा के सदस्य के रूप में हिंदी को राजभाषा के पद पर आसीन करवाने वालों में से थे। उनकी स्मृति में संस्थान द्‌वारा प्रति वर्ष भारतीय मूल के दो विद्‌वानों को विदेशों में हिंदी के प्रचार-प्रसार हेतु पुरस्कार प्रदान किया जाता है।

ISSN 0435-1460
यू.जी.सी. केयर लिस्ट नं. 25

के.हि.सं. गवेषणा

अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषा शिक्षण तथा साहित्य-चिंतन की शोध पत्रिका
अंक-124 : चैत्र-ज्येष्ठ, 2078/अप्रैल-जून, 2021

परामर्श मंडल

प्रो. एम. वेंकटेश्वर
पूर्व प्रोफेसर, हिंदी विभाग, अंग्रेजी एवं विदेशी भाषाएँ
विश्वविद्यालय हैदराबाद 500007
ई–मेल : mannar.venkateshwar9@gmail.com

प्रो. उमाशंकर उपाध्याय
पूर्व प्रोफेसर, सावित्री बाई फुले पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे, महाराष्ट्र
ई–मेल : usupadhyay@gmail.com

प्रो. रामबख्श मिश्र
पूर्व प्रोफेसर, बनारस हिंदू विश्वविद्यालय
बनारस, उ.प्र.

प्रो. कुमुद शर्मा
प्रोफेसर, हिंदी विभाग, कला संकाय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली–110007

संरक्षक
श्री अनिल शर्मा 'जोशी'
उपाध्यक्ष, केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल, आगरा
ई–मेलः vicechairmankhs@gmail.com

प्रधान संपादक
प्रो. बीना शर्मा
निदेशक, केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा
ई–मेलः directorkhs1960@gmail.com

संपादक
डॉ. ज्योत्स्ना रघुवंशी
विभागाध्यक्ष, अनुसंधान एवं भाषा विकास विभाग
केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा
ई–मेलः drjyotsnar@gmail.com

अनुसंधान एवं भाषा विकास विभाग

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार
हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा – 282005
दूरभाष : 0562-2530683/684/705

के.हि.सं. गवेषणा, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषा शिक्षण तथा साहित्य-चिंतन की शोध-पत्रिका

अंक-124, चैत्र-ज्येष्ठ, 2078/अप्रैल-जून, 2021

© **सचिव, केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल, आगरा**

प्रकाशक : विभागाध्यक्ष, अनुसंधान एवं भाषा विकास विभाग,
केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

संपादकीय कार्यालय : अनुसंधान एवं भाषा विकास विभाग, केंद्रीय हिंदी संस्थान,
हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा - 282005
फोन/फैक्स 0562-2530684
ई-मेल : gaveshnapatrika@gmail.com

सदस्यता शुल्क :

व्यक्तिगत	प्रति अंक	रु. 40.00
	वार्षिक	रु. 250.00 (डाक खर्च सहित)
संस्थागत	वार्षिक	रु. 350.00 (डाक खर्च सहित)
विदेशों में	प्रति अंक	$ 10.00
	वार्षिक	$ 40.00

मुद्रक : राष्ट्रभाषा ऑफसेट प्रेस, आगरा

'गवेषणा' में प्रकाशित सामग्री से संपादक मंडल या संस्थान की सहमति होना अनिवार्य नहीं है। प्रकाशित सामग्री के उपयोग के लिए स्वामी/प्रकाशक की अनुमति आवश्यक है।

स्वामित्व : **सचिव, केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल, आगरा**

अनुक्रम

आमुख/ **प्रो. बीना शर्मा**		04
संपादकीय/ **डॉ. ज्योत्स्ना रघुवंशी**		05–06
प्राचीन भारतीय (भर्तृहरि) भाषा–चिंतन तथा आधुनिक (सॅस्यूर, चॉम्स्की, हैलीडे, देरिदा) भाषा–विज्ञान: तुलनात्मक संदर्भ	**पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'**	07–22
गिरमिटिया हिंदी	**विमलेश कान्ति वर्मा**	23–37
राजभाषा हिंदी का जनपक्ष	**अम्बरीश त्रिपाठी**	38–44
साहित्यिक अनुवाद की समस्याएँ एवं समाधान	**राम किशोर**	45–52
व्यापक ब्रह्म सबनि मैं एकै (कबीर का दार्शनिक चिंतन)	**बिपिन कुमार**	53–62
हिंदी आलोचना के प्रवर्तक आचार्य पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'	**दानबहादुर सिंह**	63–69
गुरु नानक देव जी की वर्तमान प्रासंगिकता	**सपना शर्मा**	70–81
तेलुगु साहित्य में भक्ति आंदोलन और स्त्री भक्तों की भूमिका	**जगदीश गिरी**	82–89
बहुमुखी प्रतिभा के धनी श्री राधाचरण गोस्वामी	**अम्बिका उपाध्याय**	90–95
तुलसी–साहित्य के अंतर्विरोध	**सुरेन्द्र सिंह यादव**	96–105
मोहन राकेश कृत कहानी 'मलबे का मालिक' का शैलीगत अध्ययन (चयन एवं विचलन के विशेष संदर्भ में)	**तृष्णा दत्त**	106–112
नरेश मेहता: आधुनिक हिंदी कविता का गुमनाम कवि	**मयंक मिश्रा**	113–124
के.टी. मुहम्मद और लक्ष्मी नारायणलाल के नाटकों में सामाजिक न्याय	**ससिकला ए.वी.**	125–133
समकालीन आदिवासी कविता: वैश्विक सभ्यता और सामाजिक विकास का लिटमस टेस्ट	**नीरज**	134–143
छायावाद और पंडित मुकुटधर पाण्डेय का साहित्यिक अवदान	**बीरू लाल बरगाह**	144–151
आगरा बाजार : शायर 'नजीर' के बरास्ते मनुष्य–केंद्रीयता की यात्रा	**निवेदिता प्रसाद**	152–161
राही मासूम रजा के उपन्यासों की भाषा–शैली	**मोनिका कुमारी**	162–168
मुहावरे में ढलते हिंदी सिनेगीत	**राजकुमार व्यास**	169–176

इस अंक के लेखक

सदस्यता फार्म

लेखकों से निवेदन

आमुख

‘गवेषणा’ पत्रिका केंद्रीय हिंदी संस्थान की सबसे पुरानी और सशक्त पत्रिका है। समन्वय पूर्वोत्तर के बाद अन्य छह: पत्रिकाओं (शैक्षिक उन्मेष, भावक, प्रवासी जगत, समन्वय दक्षिण, समन्वय पश्चिम, संवाद पथ) का प्रकाशन वर्ष 2017 से प्रारंभ हुआ है। इस प्रकार गवेषणा संस्थान पत्रिकाओं की अग्रजा ठहरती है।

‘गवेषणा’ अंक–124 (अप्रैल–जून) भाषा और साहित्य चिंतन के अनेक पक्षों को स्वयं में समेटे हुए है। प्राचीन भारतीय और आधुनिक पाश्चात्य चिंतन का तुलनात्मक संदर्भ, आचार्य पद्म सिंह शर्मा, श्री राधा चरण गोस्वामी, नरेश मेहता, मोहन राकेश, लक्ष्मी नारायण लाल, के.टी. मुहम्मद, मुकुटधर पाण्डेय और राही मासूम रजा सदृश साहित्यकारों के व्यक्तित्व और कृतित्व का उल्लेख है तो गिरमिटिया हिंदी, राजभाषा हिंदी साहित्यिक अनुवाद के विविध पक्षों के अवलोकन के साथ–साथ कबीर, गुरुनानक देव और तुलसी भी समाहित हैं।

समकालीन आदिवासी कविता, नजीर का ‘आगरा बाजार’ और ‘मुहावरों में ढलते हिंदी सिनेगीत’ पर भी लेखकों की कलम चली है।

कुल मिलाकर यह अंक भाषा चिंतन और साहित्य का एक ऐसा दस्तावेज है जो पाठकों के लिए संग्रहणीय होगा। संपादक सहित सभी रचनाकार धन्यवाद के अर्ह हैं।

—(प्रो. बीना शर्मा)
निदेशक

संपादकीय

हिंदी के विश्वव्यापी रूप को आज जब हम देखते हैं तो उसके निरंतर विकसित, प्रसारित रूपों पर हमारा बरबस ध्यान जाता है। दुनिया के कई देशों ने भारतीय हिंदी के मानक रूप से इतर अपनी परिस्थितियों और जरूरतों के अनुसार हिंदी के विविध रूपों को पहचान दी और उसमें साहित्य भी रचा। दरअसल ये हिंदी के रूप विषम परिस्थितियों में उनकी अस्मिता, संस्कृति और जिजीविषा के वाहक बने; मॉरीशस, फीजी, गयाना, दक्षिण अफ्रीका, त्रिनिडाड एवं टबैगो आदि देशों ने इस हिंदी को अलग-अलग नाम दिए जिन पर मुख्य रूप से हिंदी में बोली रूपों और स्थान विशेष की भाषाओं का प्रभाव पड़ा। ये एक मुश्किल दौर था और इन गिरमिटिया मजदूरों ने 'गिरमिटिया हिंदी' (समेकित हिंदी भाषा रूप) के द्वारा अपनी पहचान को दुनिया के सामने उजागर किया। इन सभी बिंदुओं को बहुत व्यवस्थित और विस्तृत रूप में प्रो. विमलेश कान्ति वर्मा ने 'गिरमिटिया हिंदी' शोध आलेख में दिया है। अपने विशद अनुभव और संदर्भों से गवेषणा के इस अंक का ये महत्वपूर्ण आलेख है।

प्रो. पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु' जी ने प्राचीन और पाश्चात्य भाषाविदों के विचारों का तुलनात्मक विश्लेषण बहुत परिश्रम से और विद्वतापूर्ण ढंग से लिखा है। गवेषणा के लिए और उसके पाठकों के लिए ये लेख बहुत महत्वपूर्ण और ज्ञानवर्धक है।

'राजभाषा हिंदी का जनपक्ष', 'साहित्यिक अनुवाद की समस्याएँ एवं समाधान' हिंदी भाषा और भाषाविज्ञान के अनुप्रयोग की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

आचार्य पद्म सिंह शर्मा 'कमलेश', श्री राधाचरण गोस्वामी, पंडित मुकुटधर पाण्डेय हिंदी साहित्य के विशिष्ट व्यक्तित्व रहे हैं। जिनके कृतित्व के बारे में बहुधा लेखन या चर्चा नहीं की जाती है। इनमें पद्म सिंह शर्मा 'कमलेश' लंबे समय तक आगरा में रहे हैं। अतएव इन विभूतियों की याद में उनके कृतित्व संबंधी शोध आलेखों को गवेषणा के इस अंक में दिया जा रहा है। कबीर का दार्शनिक चिंतन, गुरु नानक देव की प्रासंगिकता, तुलसी साहित्य के अंतर्विरोध ये शोध आलेख भक्तिकाल के इन कवियों के अछूते प्रसंगों को उजागर करने वाले हैं।

'तेलुगु भक्ति साहित्य में स्त्री भक्त', के.टी मुहम्मद और लक्ष्मीनारायण लाल के नाटकों में सामाजिक न्याय' गवेषणा के हिंदी और भारतीय भाषाओं के मध्य पुल तलाशने की कोशिश के रूप में महत्वपूर्ण है।

मोहन राकेश, नरेश मेहता, राही मासूम रज़ा की कृतियों पर साहित्यिक और भाषिक दृष्टि से विचार तीन अलग-अलग आलेखों में किया गया है।

'समकालीन आदिवासी कविता, शोध आलेख आदिवासी विमर्श को पुष्ट करने वाला है। आगरा 'बाजार नाटक' के मद्देनजर हबीब तनवीर के नाट्यकर्म और आगरा के नज़ीर अकबरावादी तक की यात्रा रोचक और जानकारी पूर्व है। हिंदी सिने गीत में मुहावरों की खोज और प्रकाशंतर से हिंदी फिल्मी गीतों के लेखन, संगीत और उनकी लोकप्रियता पर रोचक नजरिए से विचार किया गया है।

आशा है, पाठकों को यह अंक पसंद आएगा।

—डॉ. ज्योत्स्ना रघुवंशी

संपादक, गवेषणा

प्राचीन भारतीय (भर्तृहरि) भाषा–चिंतन तथा आधुनिक पाश्चात्य (सॅस्यूर, चॉम्स्की, हैलीडे, देरिदा) भाषा–विज्ञान : तुलनात्मक संदर्भ

–पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'

प्राचीन 'भारतीय भाषा–चिंतन और आधुनिक पाश्चात्य भाषा–चिंतन'–एक अत्यंत व्यापक और गहन विषय है, जिस पर एक तथ्यान्वेषी और तत्वान्वेषी ग्रंथ की रचना की जा सकती है। अत: मैंने इस विषय को एक सीमित रूप में ही इस आलेख में तुलनात्मक दृष्टि से विमर्शित–विवेचित किया है।

भारतीय परंपरा में जितना गहन और समृद्ध भाषा–चिंतन प्राप्त होता है, उतना गहन और समृद्ध भाषा–चिंतन अद्यतन पाश्चात्य भाषाविज्ञान में भी प्राप्त नहीं होता। आज देरिदा (Derida) के जिस 'Deconstruction' की इतनी धूम मची हुई है, वह कोई सर्वथा नव्य चमत्कारी चिंतन नहीं है। भारतीय परंपरा का 'निरुक्त' यानी उक्त (कथित) को खोलना इसी संकल्पना का प्रथम विस्फोट है। इसी में 'निर्वचन' जैसे पद का प्राय: प्रयोग भी हुआ है। यह 'वचन' एक पूर्ण 'कथन' है। 'कथन' क्या है? 'कथन' प्रोक्ति (Discourse) है। 'डी–कंस्ट्रक्शन' क्या है? 'पाठ' (Text) और 'प्रोक्ति' (Discourse) को खोलने का सिद्धांत ही तो है। 'निरुक्त' जैसे व्याकरणिक ग्रंथ में निर्वचन के अनेक सिद्धांतों का निरूपण है। पश्चिम आज उस पर विचार कर रहा है, भारतीय भाषा–मीमांसा उस पर हजारों वर्ष पहले सोदाहरण–सैद्धांतिक और अनुप्रयुक्त रूप में विचार कर चुकी है।

भारतीय भाषा–परंपरा मानती है कि अर्थ व्याकरण का अपरिहार्य विषय है। पर पाश्चात्य भाषा–चेतना व्याकरण में केवल रूप (Morphie) संरचना और वाक्य (Synactic) संरचना को ही विवेच्य मानती है और उसने अभी तक 'अर्थ' को व्याकरण के क्षेत्र से निष्कासित कर रखा था। जे. आर. फर्थ और नोअम् चॉम्स्की ने इस पर धीरे–धीरे विचार आरंभ किया।

भारतीय भाषा–चिंतन आधुनिक भाषाविज्ञानियों के लिए कितना महत्वपूर्ण और उपयोगी है इस विषय में दो प्रकार के मत मिलते हैं। एक प्रकार का मत तो इसके महत्व को उपस्थापित

करता है। जॉन लायंस (John Layons) भारतीय भाषा-चिंतकों द्वारा विवेचित सैद्धांतिक संदर्भों और विश्लेषणात्मक प्रणालियों को महत्वपूर्ण मानते हैं। वह इसके लिए आधुनिक भाषाविज्ञान के प्राचीन भारतीय भाषाचार्यों का ऋणी भी मानते है। वह मानते हैं कि आधुनिक भाषाविज्ञान उससे सहयोजित होकर ही विकसित हुआ है। रोबिन्स (Robins) के मत में 'भारतीय भाषा-चिंतन में' स्वनिमीय व्यवस्था, स्वनिक विश्लेषण और उसका विवेचन आधुनिक भाषाविज्ञानियों की कल्पना से कहीं अधिक वैविध्यपूर्ण और समृद्ध है। आधुनिक भाषाविज्ञान उसके विरोध में खड़ा नहीं होकर उसके सहयोजन में विकसित हुआ है। आधुनिक भाषाविज्ञान को उसने एक ठोस आधार प्रदान किया है। अमेरिकी संरचनावादी भाषाविज्ञानी ब्लूमफील्ड (Bloomfield) ने पाणिनि की अष्टाध्यायी को मानवमेधा का अपूर्व 'दीप-स्तंभ' कहा है। एलन ने भारतीय शिक्षा-शास्त्रों और प्रातिशाख्यों में विवेचित ध्वनि-सिद्धांतों और उनके विश्लेषण की गहनता के सामने आधुनिक पाश्चात्य भाषा-चिंतन को नतशिर स्वीकार किया है। दूसरी ओर भारतीय मीनाक्षी सुंदरम् का मानना है कि भारतीय भाषा-चिंतन पाश्चात्य आधुनिक भाषाविज्ञान से सर्वथा अलग है। उनके अनुसार भारतीय व्याकरण-चिंतन संस्कृत तक सीमित है। उसमें सार्वभौम व्याकरण की क्षमता नहीं है। आधुनिक भाषाविज्ञान उससे कहीं आगे है। ऐसे में यह अपेक्षित है कि भारतीय और पाश्चात्य भाषा-चिंतन की संकल्पनाओं को तुलनात्मक संदर्भ में देखा जाए।

भर्तृहरि का 'वाक्यपदीय' और पाश्चात्य अर्थचिंतनः

भारत में अर्थचिंतन की परंपरा हजारों वर्ष पुरानी है। निरुक्त, निघंटु के बाद आज से प्रायः पंद्रह सौ वर्ष पहले भर्तृहरि ने अपने वाक्य-व्याकरण '**वाक्यपदीयम्**' की रचना की थी। इस ग्रंथ में शब्द, पद और वाक्य तीनों से होने वाले अर्थग्रहण और अर्थ निष्पन्न करने वाले घटक-तत्वों का विवेचन किया गया है। **वाक्यपदीय** व्याकरण का ऐसा ग्रंथ है, जो शब्द, पद और वाक्य जैसी तीन व्याकरणिक इकाइयों के साथ अर्थ का विवेचन करता है। पर इसके नाभिकेंद्र में वह वाक्य की गुणात्मक अर्थवत्ता और साभिप्रायता पर विचार करता है। दूसरे शब्दों में व्याकरण और अर्थ के संबंध का विवेचन करने वाली यह यूरोपीय और भारतीय भाषाओं के बीच अपने ढंग की पहली महत्वपूर्ण रचना है।

पाश्चात्य अर्थचिंतन उन्नीसवीं-बींसवी सदी में आरंभ होता है। संज्ञानात्मक अर्थविज्ञान और निर्वचनात्मक अर्थविज्ञान में सैद्धांतिक स्थापनाएँ मिलती हैं। संज्ञानात्मक अर्थविज्ञान में वाक्य और प्रोक्ति से अर्थग्रहण-विषयक मान्यताओं और सिद्धांतों की स्थापना है तो निर्वचनात्मक अर्थविज्ञान में वाक्य को केंद्र में रखकर उसके निर्वचन-विषयक मान्यताओं और सिद्धांतों का निरूपण है। इन दोनों के अतिरिक्त प्रजननात्मक अर्थविज्ञान भी अर्थविषयक सूत्रीकरण करता है। बाद में जे. आर. फर्थ के भाषावैज्ञानिक विवेचन में अर्थ की प्राथमिक एवं द्वितीयक जैसी दो कोटियाँ की जाती हैं। साथ ही द्वितीयक अर्थ को संदर्भ से जोड़कर अर्थग्रहण में संदर्भ के स्वरूप और महत्व को निरूपित किया जाता है।

इसके पश्चात् नोअम् चॉम्स्की जब वाक्यीय संरचनाओं पर अपना उच्चतर व्याकरणिक विवेचन करते हैं वहाँ वह बाह्य संरचना (Surface Structure) और गहन संरचना (Deep Structure) जैसी दो संरचनाओं का निरूपण करते हैं और गहन संरचना के साथ अर्थ को जोड़ते हैं। वह एक बाह्य संरचना के अंतर्गत अनेक गहन संरचनाओं को उद्घाटित-रेखांकित करते हैं। पर यहाँ भी वह गहन संरचना में केवल बाह्य संरचना को अलग कर प्रस्तुत करते हैं।

बीसवीं शताब्दी में ही पश्चिम में अनेक प्रकार से शब्द और वाक्य से सम्प्राप्त होने वाले एकाधिक तत्वों का निरूपण और विवेचन प्राप्त होता है। इनमें ऊर्ध्वाधर अर्थवत्ता (Hyponym) तथा अंगांगिपरक अर्थवत्ता (Meronym), अर्थ का परमाणु-विखंडन (Atoms of Meaning) या अवयव-भूतार्थता (Constituent Meaning) जैसी अर्थगत कोटियों की उद्भावनाएँ और स्थापनाएँ मिलती हैं। कहना न होगा कि पाश्चात्य अर्थ-चिंतन बृहत् और गहन दोनों ही रूपों में विवेचन करने का आग्रही है तथा उसकी सैद्धांतिक और घटकीय स्थापनाएँ गाणितिक पद्धति से प्रभावित हैं।

भर्तृहरि के **वाक्यपदीय** में मूलत: वाक्य का विधान करने वाले पदों और वाक्यों से अर्थ की ग्रहणशीलता और अर्थनिष्पन्नता संभव होती है। यहाँ पदों के अनुक्रम से बनने वाले वाक्यों में ऐसी क्षमता होती है, जो अर्थ का विधान करती है। यहीं **वाक्यपदीय** का अभीष्ट विचारणीय विषय है। **वाक्यपदीय** में दोनों पक्ष की स्थापनाओं और मान्यताओं का सोदाहरण और विस्तारपूर्ण विवरण और विवेचन प्राप्त होता है। **वाक्यपदीय** का लेखक मूलत: यह मानता है कि अर्थ का निरूपण और ग्रहण वाक्य-केंद्रित होता है, पद-केंद्रित नहीं। वह भाषा की सबसे बड़ी इकाई वाक्य को ही स्वीकार करता है और अर्थ को अंगपरक नहीं मानकर अंगीपरक मानता है। उसके अनुसार अर्थ का ग्रहण खंड से नहीं होता, साकल्य से होता है। भर्तृहरि वाक्य के साथ महावाक्य की भी स्थापना करते हैं पर उसके केंद्र में वाक्य ही रहता है क्योंकि महावाक्य वाक्य का ही संसक्तिपरक संगुच्छ है। खंडवादी अर्थचिंतक और दार्शनिक ने जब पदों के अर्थ का निषेध करते हुए भर्तृहरि की अर्थविषयक वाक्य-केंद्रित स्थापना को देखा, तो उसने एक प्रतिप्रश्न खड़ा कर दिया कि जब पदों में अर्थ नहीं होता, वह वाक्य में होता है, तो फिर महावाक्य की स्थिति में वाक्यों में अर्थ नहीं होता, अपितु वहाँ महावाक्य ही अर्थ को निष्पन्न करता है। पर इस प्रतिप्रश्न में उठाए गए तर्क का खंडन **वाक्यपदीय** के भाष्यकार पुण्यराज ने अपने तर्क से किया और वाक्य को ही केंद्र में बना रहने दिया। उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी के पाश्चात्य अर्थचिंतन में अर्थ को जहाँ पदों के परस्पर जुड़ने से वाक्य के साकल्य में ग्रहण किया जाता है, वहाँ **वाक्यपदीय** ने उस योगफल का निषेध करते हुए उससे होने वाले विशिष्ट अर्थग्रहण को ही वाक्यार्थ कहा है, जिस तक **देरिदा** (Derrida) बाद में पहुँचते हैं।

भर्तृहरि ने वाक्यार्थ का विवेचन करते हुए प्रथम प्रभेद **प्रतिभा-वाक्यार्थ** जैसे वाक्यार्थ के स्वरूप को निरूपित किया है। पाश्चात्य विवेचन में आज तक **प्रतिभा-वाक्यार्थ** जैसी सैद्धांतिक स्थापना कहीं भी देखने को नहीं मिल पाती है। अब प्रश्न यह खड़ा होता है कि **प्रतिभा-वाक्यार्थ**

के केंद्र में वाक्य रहता है या उसका वक्ता रहता है अथवा उसका 'श्रोता' इसी तर्ज पर यह भी कहा जा सकता है कि अर्थ-ग्रहण के संदर्भ में **प्रतिभा-वाक्यार्थ** वाक्य में जो शब्दों के द्वारा कहा जा रहा है, उसको महत्व नहीं देकर, जो उससे कुछ इतर और विशिष्ट है, उस पर बल दिया गया है और उस अनुपस्थित को ही वाक्यार्थ माना गया है, उपस्थित को नहीं। बीसवीं शताब्दी में विसंरचना (Deconstruction) पर Grammatology जैसी अपनी महत्वपूर्ण पुस्तक लिखने वाले **जॉक देरिदा** की यह मान्यता है कि जो वाक्य में या पाठ में उपस्थित या विद्यमान है, वह उसका अर्थ नहीं, अपितु जो वाक्य में और पाठ में अनुपस्थित है, वही उसका अर्थ है। इस तरह जो विवेचन देरिदा बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में कर रहे हैं, वह आज से डेढ़ हजार वर्ष पूर्व **वाक्यपदीय** में भर्तृहरि द्वारा विवेचित हो चुका था। आज देरिदा के अर्थ-विवेचन विषयक मान्यता के संदर्भ में वह अत्यंत प्रासंगिक हो उठता है। देरिदा अर्थ-चिह्नन (Tracing) की बात करते हैं और उसके लिए डिफ्रेंस (Differance) जैसे पद की स्थापना करते हुए उसके तीन अर्थ निकालते हैं— 1. विभेदीकरण, 2. स्थगन और 3. विकीर्णन। भर्तृहरि ने **वाक्यपदीय** में **प्रतिभा** जैसे पारिभाषिक का प्रयोग कर इसको अपनी **प्रतिभा** में समाहित कर लिया है। **प्रतिभा** एक ऐसा व्यापक पद है, जिसके भीतर अनेक घटकों का समाहार हो जाता है। मेरी दृष्टि में बीसवीं सदी में देरिदा वह प्रथम व्यक्ति है, जिसने वाक्यार्थ-ग्रहण में वक्ता और सर्जकीयता से अधिक 'श्रोता' और उसकी भावनीयता को महत्व दिया है। उसके मूल में गृहीता की प्रतिभा का विवेचन है। भारतीय परंपरा में आचार्य राजशेखर ने अपनी **काव्य-मीमांसा** पुस्तक में कारयित्री प्रतिभा के साथ-साथ जिस भावयित्री प्रतिभा का विवेचन किया है, उसका उद्भावन-स्थापन और विकास राजशेखर और अन्य ऐसे आचार्यों से बहुत पूर्व भर्तृहरि के **वाक्यपदीय** में हो चुका था।

वाक्यपदीय की यह विशेषता है कि उसने व्याकरणिक कोटियों को निरूपित कर उससे अर्थ की व्युत्पन्नतता और निष्पन्नता पर विमर्श नहीं कर श्रोता और पाठक की दृष्टि से वाक्य में विद्यमान अर्थ के घटक-तत्वों का निरूपण और विवेचन किया। इसी दृष्टि से उसने **प्रतिभा वाक्यार्थ, संसर्ग वाक्यार्थ, संसृष्टि वाक्यार्थ** आदि आठ प्रभेदों का सोदाहरण विवेचन और स्थापन किया है। पाश्चात्य अर्थ-विवेचन में प्रतिभा जैसा शब्द कहीं खोजने पर भी प्राप्त नहीं होता। **प्रतिभा** पाठ (Text) के अर्थ के संदर्भ में एक अत्यंत व्यापक पद है, जो अपने भीतर सब कुछ को समाहित करने में समर्थ है। ठीक वैसे ही जैसे ब्रह्म की अवधारणा के अंतर्गत विश्व में जहाँ जो कुछ भी है उसका उसमें समाहार हो जाता है। पर भर्तृहरि ने प्रतिभा के साथ संसर्ग संसृष्टि आदि ऐसे घटक-तत्वों को भी निरूपित किया है, जिससे **प्रतिभा वाक्यार्थ** को दिशा प्राप्त हो पाती है।

इस प्रकार **वाक्यपदीय** के अर्थचिंतन, निरूपण और विवेचन को देखते हुए यह मानना पड़ता है कि पाश्चात्य अर्थचिंतन की सारी व्यापकता और सूक्ष्मता तुलनात्मक दृष्टि से अभी काफी पीछे है। **देरिदा** अपने अर्थ-चिंतन में **वाक्य** को केंद्र में नहीं रखता। **वाक्यपदीय** मूलत: वाक्यार्थ-विषयक एक ऐसा ग्रंथ है जो न केवल सामान्य अर्थविज्ञान की दृष्टि से, अपितु काव्यार्थ-ग्रहण की दृष्टि से भी अत्यंत समर्थ और महत्वपूर्ण है। यह इसकी ऐकिकता में द्विपक्षीयता का समाहार-मात्र नहीं है,

बल्कि अनेकता का ऐकिकता में समावेश है। पाश्चात्य अर्थ-चिंतन में काव्यार्थ की दृष्टि से जिस संज्ञानात्मक अर्थविज्ञान की बात की जाती है, वह भी अपने स्वरूपांकन और मूल्यांकन की दृष्टि से अभी काफी पिछड़ा हुआ है, यद्यपि उसका समावेश **प्रतिभा-वाक्यार्थ** में ही हो जाता है।

पाश्चात्य अर्थ-चिंतन केवल अभिधा के स्तर पर अर्थ पर विचार करता है, जैसे-प्रजननात्मक और निर्वचनात्मक अर्थविज्ञान में। पर भर्तृहरि का वाक्यपदीय वाक्यार्थ को अभिधेयार्थ नहीं मानकर प्रतीयमानार्थ मानता है। इसीलिए वह वाक्य के अर्थों को पदों के क्रमिक अन्वय का कुल अर्थ नहीं मानता। दूसरे, वह अपने व्याकरण में काव्यार्थ-ग्रहण को भी ध्यान में रखते हुए अपने घटक-तत्वों को प्रस्तावित करता है।

भाषा की स्वरूपगठनात्मक प्रक्रिया : सॅस्यूर और भर्तृहरि का तुलनात्मक विमर्श

एफ.डी. सॅस्यूर को आधुनिक भाषाविज्ञान का जनक और प्रजापति माना जाता है। भाषा के विषय में उसकी सबसे बड़ी स्थापना यह है कि वाचिक भाषा प्राथमिक भाषा नहीं है, अपितु उसके पहले भी भाषा की एक मानसिक आंतरिक स्थिति है। वाचिक भाषा इसी पर आधारित है। उसने मानसिक रूप में व्यवस्थित भाषा को 'लांग' तथा वाचिक रूप में निष्पन्न होने वाली भाषा को 'पेरोल' कहा है। पहली स्थिति अमूर्त भाषा-व्यवस्था की है, तो दूसरी स्थिति मूर्त भाषा-व्यवहार की है। 'लांग' प्रच्छन्न और गर्मित होता हैं, पर 'पेरोल' वास्तविक कार्यान्वित रूप होता है। 'लांग' की प्रकृति निश्चित होती है, पर 'पेरोल' की अपनी प्रकृति निश्चित न होकर स्वतंत्र होती है। 'लांग' भाषा की अमूर्त व्यवस्था है, पर 'पेरोल' उसका मूर्त रूप है। 'लांग' वह अमूर्त भाषा व्यवस्था है, जो एक भाषाभाषी समुदाय के हर व्यक्ति के मन-मस्तिष्क में समान रूप से विद्यमान होती है। यहाँ वह भाषा-विशेष के अलिखित व्याकरण के बतौर व्यवस्थित रहती है। पर 'पेरोल' भाषिक निष्पादन है। हर व्यक्ति की इस भाषिक निष्पकता में अंतर होता है। यह शारीरिक भूमिका पर निर्भर है। यही भाषा-व्यवहार है।

भाषा-व्यवस्था और भाषा-व्यवहार के जिन दो स्तरों और रूपों का निरूपण सॅस्यूर ने ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी में किया है, उसका पहला सुस्पष्ट चिंतन और निरूपण ईसा की छठी शती से भारतीय वैयाकरण भर्तृहरि ने अपनी प्रसिद्ध व्याकरण-पुस्तक 'वाक्यपदीय' में कर दिया था। सॅस्यूर भाषा-व्यवहार (पेरोल) के पहले भाषा की एक ही मानसिक व्यवस्था-स्थिति मानते हैं, जिसे वह लांग कहते हैं। पर भर्तृहरि ने भाषा की उद्भावन-प्रक्रिया के चार स्तर स्वीकार किये— 1. परा, 2. पश्यन्ती, 3. मध्यमा और 4. वैखरी। 'वैखरी' भाषा-व्यवहार है, जो वाचिक रूप में निष्पन्न होने वाली मूर्त भाषा है। पर इसके पूर्व की परा, पश्यन्ती और मध्यमा जैसी प्रक्रिया-स्थिति मूलतः भाषा-व्यवस्था है, जिसकी स्थिति मानसिक है। 'मध्यमा' को भारतीय परंपरा में 'बुद्धिस्थ भाषा' और 'वैखरी' को 'करणस्थ भाषा' कहा गया है, इससे पहले की अमूर्त, मानसिक स्थिति और दूसरे की मूर्त शारीरिक स्थिति का द्योतन होता है। स्पष्ट रूप से आज सॅस्यूर अपने भाषा-विषयक अपनी जिस उक्त क्रांतिकारी स्थापना के कारण बार-बार सराहे और महत्वपूर्ण माने जाते हैं, आज से डेढ़

हजार वर्ष पहले इस महत्वपूर्ण अवधारणा को प्रवर्तित और निरूपित करने का श्रेय भर्तृहरि को प्राप्त हो चुका था। भर्तृहरि 'मध्यमा' से पूर्व की जिन दो सूक्ष्म स्थितियों 'परा' और 'पश्यन्ती' का उल्लेख और निरूपण करते हैं, वहाँ तक तो फर्डिनाड डी. सॅस्यूर पहुँच तक नहीं पाते हैं।

भर्तृहरि और चॉम्स्की : वाक्यार्थ-विवेचन का तुलनात्मक संदर्भ

चॉम्स्की ने वाक्य की बाह्य संरचना और आंतर-संरचना की बात की है। उसके अनुसार वाक्य की एक बाह्य संरचना अपनी अंतर-संरचना में अनेक वाक्यों का संग्रंथन हुआ करती है। ये जो अनेक वाक्य-संरचनाएँ एक बाह्य संरचना में अंतर्ग्रथित होती हैं वह मूलतः उस बाह्य संरचना की आंतर या गहन संरचना है। एक वाक्य लें— दशरथ के राम, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न चार पुत्र थे। पर इसमें चार अंतः संरचनाएँ गुम्फित हैं— 1. राम दशरथ के पुत्र थे, 2. भरत दशरथ के पुत्र थे, 3. लक्ष्मण दशरथ के पुत्र थे, 4. शत्रुघ्न दशरथ के पुत्र थे। इस प्रकार चॉम्स्की एक प्रकट बाह्य संरचना के स्तर पर ही चार अंतः संरचनाओं को स्वरूपित कर देता है। एक दूसरे उदाहरण से भी उसकी इस अवधारणा को समझें— "उसने पास आते हुए साँप को मारा।" इस वाक्य की दो-दो अंतः संरचनाएँ दो प्रकार से हैं— साँप पास आ रहा था, 2. उसने साँप को मारा। दूसरा (क) वह साँप के पास आ रहा था, (ख) उसने साँप को मारा। चॉम्स्की के अनुसार वाक्य की बाह्य संरचना के भीतर ऐसी अंतः संरचनाएँ छिपी हुई होती हैं, जिन वाक्यगत अन्वयात्मक अर्थ उद्‌घाटित होता है। आशय यह कि उसके द्‌वारा निर्दिष्ट गहन संरचना ही अर्थ-संरचना है।

इससे यह बात भी स्पष्ट होती है कि चॉम्स्की के लिए वाक्य अभिव्यक्त होकर बाहर स्थित है। इसकी स्थिति प्राथमिक है और इसी से हम उसकी गहन संरचना निकालते हैं, जिसकी स्थिति यहाँ द्‌वितीयक है। पर भारतीय वैयाकरण भर्तृहरि अपने **वाक्यपदीय** में यह मानते हैं कि वाक्य की प्रकृति बाह्य स्थित नहीं है। उसकी प्रकृति अंतः स्थित है। जैसे उन्होंने भाषा की प्राथमिक स्थिति परा, पश्यन्ती, मध्यमा के अनुरूप अंतः स्थित मानी है और उसकी द्‌वितीयक स्थिति को वैखरी पर कहा है। वाक्य की प्राथमिक स्थिति बाह्य स्थित है और द्‌वितीयक स्थिति अंतः स्थित है, यह युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वाक्य अभिव्यक्त होने के पहले ही अंतः स्थिति में आ जाता है। उसकी अभिव्यक्ति बाद में होती है। यह भर्तृहरि की बहुत बड़ी मान्यता है, जो चॉम्स्की से कहीं अधिक सूक्ष्म, चिंतनपरक, विश्लेषणपरक, वैज्ञानिक और प्रामाणिक है। यह सॅस्यूर के 'लांग' से भी कहीं अधिक सूक्ष्म है। भर्तृहरि से पहले बौद्‌ध दार्शनिकों ने भी अपना मत वाक्य की इस अंतःस्थिति के पक्ष में ही व्यक्त किया था।

जहाँ तक अर्थ की गहन संरचना के अंतर्गत लिए जाने का प्रश्न है, चॉम्स्की जो अर्थ वाक्य से लेते हैं वह उसका अन्वयार्थ-मात्र है। वह बहु-र्थिता की स्थिति में वाक्य के अन्वय क्रम को बदल-बदल कर अनेकार्थ निकाल लेते हैं। वह एक वाक्य में निहित अनेक वाक्य-स्थिति को विश्लेषित करके भी अर्थ निकालते हैं। पर भर्तृहरि के लिए न यह अर्थ है, न यह गहन संरचना है। उसके लिए **प्रतिभा-वाक्यार्थ** ही अर्थ है, जो वाक्यों में पदक्रमों, रूपों का जोड़ मात्र नहीं है। वह

अर्थ कुछ विशिष्ट ही है, जो प्रतिभोत्थित है। प्रतिभा से कौंधने वाला, स्फुरित होने वाला है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट हो जाता है कि चॉम्स्की के द्‌वारा गहन संरचना में अर्थ का जो मंतव्य उद्‌दिष्ट है वह बहुत छिछला और सतही है। पर भर्तृहरि ने इसको बहुत गंभीरतापूर्वक ग्रहण और निरूपण किया था और इसे बिना गहन संरचना जैसे पद का प्रयोग किए हुए प्रतिभा के माध्यम से निर्दिष्ट और स्वरूपित कर दिया था। इस तरह ऊपर विवेचित और निर्दिष्ट दृष्टांतों के आलोक में भर्तृहरि के शक्ति-सामर्थ्य और चॉम्स्की की सीमा का हमें पता चल जाता है।

भर्तृहरि और चॉम्स्की : वाक्यार्थ-विवेचन का संदर्भ

भर्तृहरि ने वाक्यार्थ का विवेचन किया है। इस विवेचन में अनेक प्रकार के वाक्यार्थ का उल्लेख किया गया है। आज पश्चिम में जब वाक्य की चर्चा की जाती है तब उसमें कभी-कभी संदर्भ के अनुसार जो एक शब्द पूरे वाक्य का स्थान ले लेता है, अर्थात् एक शब्द कभी-कभी अर्थ की दृष्टि से वाक्य बन जाया करता है और उसी तरह एक वाक्य अपनी पूरी आकांक्षा और सांदर्भिक अर्थवत्ता को व्यक्त करने के कारण कथन या प्रोक्ति (Discourse) बन जाया करता है, इसका विवेचन आज से बहुत पूर्व भारतीय वैयाकरणों में भर्तृहरि ने कर दिया था।

भर्तृहरि के यहाँ द्‌वयर्थक वाक्य का भी प्रतिपादन है। पर यह प्रतिपादन मूलत वाक्य-संरचना के स्तर पर नहीं है। यहाँ वाक्य की द्‌वयर्थकता भी वाक्य में न्यस्त शब्द पर आधारित है।

पाश्चात्य आधुनिक भाषाविज्ञानी चॉम्स्की के अनुसार यदि हम ऐसा कोई एक वाक्य लें— 'यह मेरा चित्र है', तो इसके तीन अर्थ होंगे— 1. इस चित्र में मैं बिम्बित हूँ, 2. इस चित्र का स्वामी मैं हूँ। 3. यह मेरे द्‌वारा बनाया गया चित्र है। चॉम्स्की ऊपर की एक बाह्‌य संरचना के अंतर्गत ये तीन गहन संरचनाएँ निकालते हैं। पर ये तीनों गहन संरचनाएँ भिन्न-भिन्न संदर्भ में ही सार्थकता प्राप्त करेंगी। वस्तुत: यहाँ जो अनेकार्थता है, वह पद पर ही आधारित है। वह पद यहाँ 'मेरा' है। यदि इस सार्वनामिक की जगह कोई संज्ञा पद होता तो उसके साथ संबंध परसर्ग भी जुड़ा होता। जैसे- यह आत्माराम का चित्र है। यहाँ 'का' परसर्ग है। भर्तृहरि का सारा विवेचन संस्कृत में है। वहाँ इसका अंतरण इस प्रकार होगा 'मम चित्र' और 'आत्मारामस्य चित्र'। मम एक पद है, इसमें शून्य रूप (0 morph) जुड़ा है— षष्ठी विभक्ति का। आत्मारामस्य एक संज्ञा पद है। अनेकार्थता इसी पद में निहित है। 'मेरा' का ही अर्थ है कि इस चित्र में मैं हूँ। अर्थात् यह चित्र मुझी को प्रतिबिंबित करता है। फिर यह मेरा का ही अर्थ है कि इस चित्र का स्वामित्व मेरा है और फिर मेरा का ही तीसरा अर्थ है कि यह चित्र मेरे द्‌वारा बनाया गया है। किसी और के द्‌वारा नहीं, नंद लाल बोस के द्‌वारा नहीं, रवीन्द्रनाथ ठाकुर के द्‌वारा नहीं और महादेवी वर्मा के द्‌वारा भी नहीं। शब्द की अनेकार्थता की यही स्थिति 'आत्माराम का चित्र' वाक्यांश के साथ जुड़ी हुई है। भर्तृहरि ने पद पर आधारित एकाधिक अर्थता या अनेकार्थता पर विचार किया है। चॉम्स्की की दृष्टि में वाक्य और अर्थ की सत्ता भिन्न-भिन्न है। इसीलिए यहाँ तीन गहन संरचनाओं का बाह्‌य संरचना में वह रूपांतरण मानते हैं। पर भर्तृहरि की मान्यता पद और अर्थ की तथा इसी प्रकार वाक्य और अर्थ की अद्‌वैतता की है। बाह्‌य

संरचना (वाक्य) और गहन संरचना (अर्थ) की द्वयता और अद्वयता का यह अंतर एक बड़ा अंतर है। फिर भर्तृहरि ये तीनों अर्थ प्रतिभा वाक्यार्थ से एक साथ ग्रहण करते हैं। चॉम्स्की का व्याकरण मूलत: वाक्य-संरचना का व्याकरण है, पर भर्तृहरि का व्याकरण वाक्यार्थ का व्याकरण है। इसलिए आज जिस अर्थ का निर्देश चॉम्स्की कर रहे हैं, उसे भर्तृहरि प्रतिभा द्वारा वाक्य-साकल्य में निरूपित कर चुके हैं। इस प्रकार आज जो विवेचन चॉम्स्की कर रहे हैं वहाँ तक आज से डेढ़ हजार साल पहले भर्तृहरि का वाक्यार्थ-प्रतिपादन पहुँच चुका था। चॉम्स्की पहले बाह्य संरचना की बात करते हैं। फिर उसकी गहन संरचना की बात उठाते हैं। भारतीय परंपरा में भर्तृहरि के अतिरिक्त बौद्ध दार्शनिकों ने भी वाक्य-लक्षण और वाक्य पर विचार किया है। इन दार्शनिकों के अनुसार वाक्य अंत: स्थित है। दूसरे शब्दों में ये दार्शनिक बाह्य संरचनात्मक वाक्य को द्वितीयक वाक्य मानते हैं और अंत: स्थित वाक्य को प्राथमिक वाक्य का महत्व देते हैं। इस अंत: स्थित वाक्य के साथ चॉम्स्की की गहन संरचन्य की तुलना अपेक्षित है। चॉम्स्की बाह्य संरचना से गहन संरचना की ओर जाते हैं। बाह्यता से आंतरिकता की ओर जाते हैं। पर भारतीय बौद्ध दार्शनिकों ने भी आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व चॉम्स्की की स्थापना के विपरीत वाक्य के संदर्भ में अपनी मौलिक और प्रामाणिक स्थापना की थी और घोषित किया था कि वाक्य अंत:स्थित है अर्थात् उसकी प्राथमिक स्थिति आंतरिकता में है। सस्यूर की मान्यता भी यही रही है। इस दृष्टि से चॉम्स्की का प्रतिपादन प्रतीपता में चलता है, जो वितथ और असंगत सिद्ध होता है। आंतरिकता में तीन संभावित गहन संरचनाओं को समेटने वाला यह वाक्य संदर्भ की सापेक्षता में एक अर्थवत्ता को लेकर अपनी बाह्य स्थिति बनाता हुआ प्रकट होता है। निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि चॉम्स्की जैसे क्रांतिकारी भाषाचिंतक के रहते हुए भी पश्चिम का भाषाविज्ञान आज इक्कीसवीं शताब्दी के आरंभिक चरण तक ऐसी मौलिक और सही स्थापना करने की स्थिति में नहीं आ पाया है।

चॉम्स्की ने विशेषत: वाक्य की बाह्य संरचना पर विचार किया है। अर्थ को वह गहन संरचना के अंतर्गत लेते हैं। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में वाक्य को स्वरूपित करते हुए बताया है कि वाक्य उस पद-समूह की संज्ञा है जिसमें अर्थ की समाप्ति होती है अर्थात् अर्थ अपनी पूर्णता को प्राप्त कर लेता है– "पदसमूहो वाक्यमर्थपरिसमाप्तो" (अर्थशास्त्र अधिकरण-2, अ. 10, पृष्ठ-26) यहाँ वाक्य को परिभाषित-स्वरूपित करते हुए ही उसकी अर्थात्मक सत्ता को अपरिहार्य माना गया है। पर चॉम्स्की के यहाँ वाक्य के स्वरूप-स्पष्टीकरण में अर्थ की इस अपरिहार्यता का कहीं कोई विवेक और उसका उल्लेख नहीं है।

चॉम्स्की ने संज्ञापदबंध + क्रिया पदबंध को ही वाक्य कहा है। अर्थात् वाक्य संज्ञापद और क्रियापद के योग से निष्पन्न होता है। भारतीय परंपरा में पाणिनि ने सुबन्त् और तिङत् के द्वारा तथा अमरसिंह ने अपने अमरकोश में वाक्य को परिभाषित करते हुए इन दोनों पक्षों को अपने ढंग से बहुत पहले स्पष्ट कर दिया था। उनके अनुसार **सुप्** एवं **तिङ्** के संयोग से जिन पदों का अंत होता है उसी पदसमूह को वाक्य कहा जाता है। दूसरे शब्दों में कारक से अन्वित क्रियापद ही वाक्य है। यहाँ कारक से अन्वित जैसा विशेषण पदबंध संज्ञा पदबंध के लिए प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि कारक संज्ञा और

सर्वनाम से ही जुड़ते हैं। चॉम्स्की के नामिक (Nominal) के अंतर्गत संज्ञा और सर्वनाम दोनों का समावेश होता है। इस पदबंध के साथ क्रियापदबंध के जुड़ने की अपेक्षा को अमरकोशकार ने आज से सैकड़ों वर्ष पहले प्रतिपादित कर दिया था। इस दृष्टि से चॉम्स्की वाक्य-भाषाविज्ञान या वाक्य-व्याकरण के संदर्भ में पहले ऐसे व्यक्ति नहीं हैं जिनकी संज्ञापदबंध और क्रियापदबंध वाली स्थापना मौलिक रूप में सामने आती हो। फिर भारतीय परंपरा से उनका एक बड़ा अंतर यह भी है कि भारतीय परंपरा का वाक्य-विवेचन जहाँ वाक्यार्थ से संपृक्त है वहाँ चॉम्स्की के वाक्य-विवेचन में संपूर्णतः और सोद्देश्यतः ऐसा नहीं है।

भर्तृहरि का वाक्य विवेचन मूलतः वाक्यार्थ का विवेचन है। भर्तृहरि ने वाक्य को स्वरूपित करते हुए वाक्य को केवल नामिक और क्रियात्मक के रूप में नहीं लिया है। वह और गहनता में जाकर वाक्य को स्वरूपित-निरूपित करते हैं। तभी वे आख्यात (क्रिया) पद को वाक्य कहते हैं, क्योंकि केवल आख्यात से भी वाक्य की रचना हो जाती है। चॉम्स्की जिस बाह्य वाक्य-संरचना को मानते हैं, उसमें यदि इतना ही कहा जाए कि 'Comin' या 'आओ' तो वाक्य पूरा हो जाता है। संस्कृत में 'आगच्छ' हिंदी में 'आ जाओ' से वाक्य निष्पन्न हो जाता है। निस्संदेह इसका नामिक या संज्ञापदबंध प्रच्छन्न है, जो आंतरिकता के स्तर पर है, अर्थात् चॉम्स्की की गहन संरचना के स्तर पर है तो बाह्य संरचना के स्तर पर केवल क्रिया-पदबंध से ही वाक्य निष्पन्न हो जाता है। इसका प्रतिपादन भर्तृहरि करते हैं, चॉम्स्की नहीं। भर्तृहरि पद-संघात को अर्थात् पदसमूह को वाक्य मानते हैं, पर ऐसा पदसमूह जिसमें आख्यात या क्रियात्मक (Verbal) विद्यमान हो और इस क्रियात्मक के अतिरिक्त जो भी पद आते हैं वह नामिक तो होंगे ही। पदसंघात में भर्तृहरि पद को दो रूपों में स्पष्ट करते हैं। यह पद जातिपरक और व्यक्तिपरक होगा, अर्थात् जातिवाचक और व्यक्तिवाचक संज्ञा से युक्त होगा। भर्तृहरि ने क्रम को भी वाक्य कहा है, क्योंकि क्रम में पदों के आने से ही वाक्य बनता है। इन क्रमों के बुद्धिगत पारस्परिक समन्वय से वाक्य निष्पन्न होता है। भर्तृहरि ने प्रथम पद को भी वाक्य माना है। यथा संबोधन में पुकारा गया कोई व्यक्तिवाची नाम 'राम सिंह'। यदि कोई रुका हुआ व्यक्ति जाते हुए 'राम सिंह' को पुकार रहा है, तो उसका अर्थ है 'राम सिंह', इधर आओ या रुक जाओ। पर यदि कोई चलता हुआ व्यक्ति अपने आगे चलने वाले राम सिंह को पुकार रहा है तो उसका अर्थ है- राम सिंह रुक जाओ। पर बाह्य संरचना के स्तर पर कहा गया केवल राम सिंह प्रथम पद अपने-आप में एक वाक्य बन जाता है, जिसका उत्तरपद आंतरिकता में तो है, पर यह बाह्य स्फोट में नहीं है, अर्थात् गहन संरचना में तो है पर बाह्य संरचना में स्पष्ट नहीं हुआ है। अंततः भर्तृहरि ने पदों की पारस्परिक साकांक्षा को वाक्य कहा है, जिसको आज के पश्चिमी भाषाविद् पारस्परिक, व्याकरणिक संसक्ति (Cohesion) और अर्थ-संसक्ति कहते हैं। भारतीय परंपरा की यही साकांक्षता सैकड़ों वर्ष पूर्व प्रतिपादित हो चुकी है। पर भर्तृहरि ने वाक्यों के ये अभिलक्षण विभिन्न न्यायवादियों के अनुसार स्पष्ट किए थे।

चॉम्स्की और भर्तृहरि का व्याकरण : तुलनात्मक संदर्भ

चॉम्स्की अमेरिकी भाषाविज्ञानी हैं और भर्तृहरि भारतीय वैयाकरण। पर उनका व्याकरण-ग्रंथ आज की भाषावैज्ञानिक अपेक्षाओं की पूर्ति करता है। मूलतः दोनों ने व्याकरण ही लिखे हैं। चॉम्स्की

का प्रवेश व्याकरण के क्षेत्र में उनके पी-एच.डी. शोध-ग्रंथ से हुआ था, जो 'Syntactic Structures' के नाम से प्रकाशित हुआ। मूलत: यह व्याकरण-पुस्तक ही है, जिसमें वाक्य की संरचना पर विचार हुआ है। चॉम्स्की ने उसके बाद अपने व्याकरण की स्थापनाओं में अनेक संशोधन और परिष्करण परिवर्तन किए, पुन: सिद्धातों की स्थापनाएँ कीं और इस विषय पर उनकी कई पुस्तकें भी प्रकाशित हुईं। इसके विपरीत भर्तृहरि यद्यपि अनेक पुस्तकों के लेखक हैं, पर उन्होंने व्याकरण का एक ही ग्रंथ लिखा- 'वाक्यपदीय'। आज उसे भाषाविज्ञान का उच्चतर व्याकरण (Higher Grammar) कहते हैं। इस दृष्टि से चॉम्स्की का व्याकरण एक उच्चतर व्याकरण है। आज से डेढ़ हजार वर्ष पहले लिखा गया भर्तृहरि का वाक्यपदीय भी सामान्य व्याकरण नहीं होकर एक उच्चतर ही नहीं, अपितु प्रगामी व्याकरण (Advanced Grammar) है। चॉम्स्की का व्याकरण वाक्यीय व्याकरण है। भर्तृहरि का वाक्यपदीय भी वाक्य को केंद्र में रखकर चलता है। चॉम्स्की की पहली व्याकरण-पुस्तक का नाम वाक्य से जुड़ा हुआ है। उस पुस्तक के नाम को यदि हिंदी में अनूदित करें तो शीर्षक बनेगा 'वाक्यीय संरचनाएँ'। भर्तृहरि के ग्रंथ के नाम में भी वाक्य जुड़ा हुआ है। पर वह वाक्य के साथ-साथ पद को भी इंगित करता है जिसे आज अंग्रेजी में रूप (Morph) कहते हैं।

चॉम्स्की ने अपने व्याकरण में भाषा की तीन इकाइयों को लिया है— 1. ध्वनि, 2. वाक्य और 3. अर्थ। इन तीनों स्तरों को उसने दो संरचनाओं में विभक्त किया है— 1. बाह्य संरचना, 2. गहन संरचना। बाह्य संरचना के अंतर्गत वह ध्वनि और वाक्य को लेता है और गहन संरचना के अंतर्गत वह अर्थ को ग्रहण करता है। भर्तृहरि ने भी अपने व्याकरण में भाषा के तीन स्तरों या इकाइयों को लिया है। ये स्तर क्रमश: शब्द, वाक्य और पद हैं तथा इन तीनों का संबंध उसने अर्थ से जोड़ा है। यद्यपि उसने भाषा की बाह्य संरचना और गहन संरचना जैसा प्रभेदीकरण नहीं किया है, फिर भी उसके द्वारा निरूपित शब्द, वाक्य और पद यह तीनों बाह्य संरचना के रूप में ही उपस्थित होते हैं और जिस अर्थ के साथ इन तीनों के संबंध को निर्दिष्ट निरूपित किया गया है वही गहन संरचना है। भर्तृहरि का व्याकरण अर्थ को महत्वपूर्ण मानता है और यह भी मानता है कि जो अर्थ को निरूपित करने वाला न हो वह व्याकरण है ही नहीं। चॉम्स्की ऐसा नहीं मानते। चॉम्स्की मुख्यत: बाह्य संरचना के वैयाकरण हैं, पर भर्तृहरि गहन संरचना के वैयाकरण हैं। उनके व्याकरण के नाभिकेंद्र में **अर्थ** है। इस अर्थ के लिए ही वे शब्द वाक्य और पद का निरूपण विश्लेषण और विवेचन करते हैं। दूसरी ओर चॉम्स्की मूलत: वाक्य-संरचना का विश्लेषण-विवेचन करते हैं और वाक्य की संरचना अर्थ से किस तरह जुड़ती है उसके कारण अभिव्यक्ति की एकार्थता, अनेकार्थता पर प्रकाश डालते हैं।

केवल ध्वनि में अर्थ नहीं होता। इसलिए पश्चिमी वैयाकरणों ने उसे भाषा की अर्थहीन लघुतम इकाई माना है। फिर भी चॉम्स्की अपने व्याकरण की बाह्य संरचना में ध्वनि की इकाई को महत्व देते हुए उसका विवेचन करते हैं। भर्तृहरि सार्थक लघुतम इकाई रूप या पद को लेते हैं और आज जिसे मुक्त रूप कहते हैं उसका, फिर वाक्य का और अंत में पद (Morph) का विवेचन करते हैं। इस तुलनात्मक संदर्भ में दोनों के यहाँ जो व्याकरण का त्रिक बनता है उसमें भर्तृहरि का त्रिक अधिक समीचीन और युक्तियुक्त प्रतीत होता है जबकि ध्वनि की इकाई को ग्रहण करने के कारण चॉम्स्की के व्याकरण का त्रिक उतना महत्वपूर्ण नहीं बन पाता है।

भर्तृहरि शब्द और अर्थ दोनों को संपृक्त मानते हैं। उनकी दृष्टि में यह दोनों दो हैं ही नहीं, बल्कि एक ही हैं। पर चॉम्स्की इन्हें दो मानते हैं। इसीलिए वह भाषा की दो संरचनाओं का निर्देश करते हैं– 1. बाह्य संरचना, 2. गहन संरचना। भर्तृहरि के यहाँ अर्थ कोई अलग से इकाई नहीं है। इसीलिए वाक्यपदीय में अर्थ का विवेचन अलग रूप में नहीं किया गया है, बल्कि वह शब्द वाक्य और पद–तीनों के साथ उसकी एकात्मता तादात्म्यता के रूप में उसका विवेचन करते हैं। यहाँ दोनों अपनी–अपनी परंपराओं से प्रभावित होकर व्याकरणिक चिंतन में प्रवृत्त होते हैं। चॉम्स्की के सामने यूनानी दार्शनिक चिंतकों के भाषा–चिंतन की विरासत है तो भर्तृहरि के सामने प्राचीन भारतीय चिंतकों वैयाकरणों और दार्शनिकों के भाषा–चिंतन का विवेक है।

चॉम्स्की अपने व्याकरण में केवल वाक्य और अर्थ के संबंध पर प्रकाश डालते हैं, पर वाक्य से अर्थ ग्रहण की प्रक्रिया क्या है, इस पर वह प्रकाश नहीं डालते। वाक्य से अर्थ कैसे गृहीत होता है इसका वह विवेचन नहीं करते और न ही वह अर्थ के घटक–तत्वों पर विचार कर पाते हैं। पद से कैसे अर्थ ग्रहण होता है, इसका भी वह विवेचन नहीं कर पाते हैं। भर्तृहरि ने जिस तरह विस्तारपूर्वक पद से अर्थ–ग्रहण की प्रक्रिया को स्पष्ट किया है। उसका लेश–मात्र भी चॉम्स्की के यहाँ नहीं है। यही नहीं, भर्तृहरि वाक्य से अर्थग्रहण किए जाने के संदर्भ में अनेक घटक–तत्वों का निरूपण और विवेचन करते हैं। चॉम्स्की का अपना व्याकरण भाषा में रूप तत्व के महत्व की उपेक्षा करता है। इसीलिए वह उसे अपना विवेच्य नहीं बना पाता है। भर्तृहरि पद के अनेक रूपों और उससे अर्थग्रहण की भूमिका में अनेक तत्वों का महत्व भी निरूपित करते हैं।

भर्तृहरि के व्याकरण में भाषा–चिंतन में पूर्व दार्शनिक मान्यताओं का विवेचनात्मक उल्लेख तो मिलता ही है, साथ ही उसका यथायोग्य खंडन–मंडन भी दीख पड़ता है। भर्तृहरि इसी पृष्ठभूमि में अपनी मौलिक स्थापनाएँ करते हैं। पर चॉम्स्की के व्याकरण में पूर्ववर्ती दार्शनिकों से उन्हें भाषाचिंतन का कोई आधार प्राप्त नहीं हो पाता। भर्तृहरि मानते हैं कि अर्थ की केंद्रीयता को उपेक्षित करके कोई व्याकरण नहीं लिखा जा सकता। दूसरे शब्दों में वह अर्थ–विवेचन को व्याकरण का मूलभूत, केंद्रीय विषय मानते हैं। चॉम्स्की ने अपने व्याकरण में वाक्य की प्रजननात्मकता पर विचार किया है। उसकी अनंत संभावनाओं पर विचार किया है। भर्तृहरि को भारतीय दार्शनिक आधार से ही यह बोध होता है कि शब्द ब्रह्म है और वह इसकी अनंत व्याप्ति की विधिवत स्थापना करते हैं। इसीलिए उनके द्वारा शब्द को विवेचित करने वाले कांड का नाम शब्दब्रह्मकांड है। जैसे ब्रह्म की अनंत व्यापकता है, अनंत संभावी फलप्रदता है, वैसे ही शब्दार्थ की अनंत व्यापकता है। व्याकरण–लेखन में ऐसा कोई परम दार्शनिक पद ईसाईयत के स्रोत से भी चॉम्स्की नहीं ले पाते हैं जबकि बाईबिल में भी सृष्टि के आरंभ में शब्द की महत्वपूर्ण भूमिका पर प्रकाश डाला गया है। चॉम्स्की का व्याकरण विश्लेषणात्मक अधिक है, विवेचनात्मक कम। ठीक इसके विपरीत भर्तृहरि का व्याकरण विवेचनात्मक अधिक है और विश्लेषणात्मक कम। चॉम्स्की के व्याकरण में अर्थ के स्वरूप का निरूपण नहीं है जबकि भर्तृहरि ने अपने शब्दार्थ–विवेचन में शब्दार्थ के स्वरूप का सम्यक निरूपण किया है।

इस तुलनात्मक मंथन और विवेचन से यह निष्कर्षित होता है कि उच्चतर व्याकरण की दृष्टि से आज से डेढ़ हजार वर्ष पूर्व का भर्तृहरि का चिंतन कहीं-अधिक समृद्ध और समीचीन है। उसका व्याकरण भाषा की मुख्य सोद्देश्यता और संप्रेषणीयता पर आधारित है, जबकि चॉम्स्की का व्याकरण भाषा के स्वरूप-विश्लेषण पर आधारित है, यदि चॉम्स्की का व्याकरण वाक्यीय व्याकरण है तो भर्तृहरि का व्याकरण वाक्यार्थीय पूर्णतः व्याकरण है। भर्तृहरि भाषा की सांप्रेषणिक इकाई भी वाक्य को ही मानते हैं, महावाक्य या प्रोक्ति (Discourse) को नहीं। यदि चॉम्स्की अपने व्याकरण में हर प्रकार से वाक्य को महत्वपूर्ण सिद्ध करता है तो भर्तृहरि अपने व्याकरण में शब्द और पद के दो बिंदुओं से उभरने वाली दो रेखाओं से ऊपर उठकर जिस बिंदु पर मिलाते हैं वह वाक्य का ही शिखर-बिंदु है और शब्द और पद के बीच एक ऐसी अदृश्य रेखा विद्यमान है जिससे बनने वाले शिखर में अर्थ की केंद्रीयता है।

इस प्रकार चॉम्स्की और भर्तृहरि के बीच भिन्नताओं के साथ-साथ जो समानताएँ मिलती हैं वे महत्वपूर्ण हैं और वह डेढ़ हजार वर्ष पूर्व व्याकरण में अर्थ को जो नाभिकेंद्रीयता प्रदान करते हैं। वहाँ तक चॉम्स्की के व्याकरण की पहुँच अब तक नहीं हो पाती है। चॉम्स्की वाक्य की बाहरी चीर-फाड़ करते हैं पर भर्तृहरि वाक्य को सीधा अर्थ से जोड़ते हैं और उसे विभिन्न रूपों में स्वरूपित करते हैं तथा भाषा में वाक्यार्थ को ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण और समीचीन मानते हैं।

वाक्यपदीय में एम.ए. के हैलीडे की संसक्ति (Cohesion) की अवधारणा :

पाश्चात्य भाषाविज्ञान में एक महत्वपूर्ण आधुनिक अवधारणा संसक्ति (Cohesion) की है। इसके प्रतिपादक प्रो. एम.ए. के. हैलीडे (M.A.K. Halliday) हैं। वाक्य में आए हुए पद को परस्पर संसक्त होना चाहिए, अर्थात् उनमें वाक्य की आकांक्षा के अनुरूप पारस्परिक योग्यता चाहिए। एक से दूसरे के जुड़ने की योग्यता, जो उनकी सन्निधि और उनके संसर्ग में बनती है। यहाँ पहले तो पदक्रम की और वाक्य-संरचना की व्याकरणिक संसक्ति होनी चाहिए। साथ ही इसमें अर्थगत संसक्ति भी होनी चाहिए। व्याकरणिक दृष्टि से कर्ता और क्रिया की संसक्ति, शब्दों के अनुक्रम की संसक्ति, व्याकरणिक रूप में वचन, लिंग, काल, वाच्य की संसक्ति। वाक्य-संरचना की दृष्टि से वाक्य-प्रकार की संरोधक (Arrest) और मोचक (Release) की पारस्परिक संसक्ति होनी चाहिए। नीचे लिखे कुछ उदाहरणों को देखें— 1. उन्होंने जाता है। 2. लड़कियाँ जा रहे थे। 3. कपड़े धूल-उज्जवल हो गए हैं। 4. वह घर से है। 5. उस काली चट्टान ने उछलते-फलांगते दुग्ध-धवल निर्झर से अपना विवाह रचा लिया।

अब पहले वाक्य को देखें। 'जाता है' वर्तमान कालिक क्रिया है, पर इसके साथ जुड़े कर्ता में जिस सार्वनामिक पद- 'उन्होंने' का व्यवहार हुआ है, उसके अनुरूप यहाँ क्रिया की साकांक्षता नहीं हैं, अर्थात् वह संसक्त नहीं है। इसी को भर्तृहरि ने संसर्ग कहा था। अब निम्नांकित वाक्य को देखें। यथा- उन्होंने खा लिया (होगा)। यहाँ जिस रूप में इसे वाक्य में रखा गया है, वहाँ उसकी व्याकरणिक संसक्ति बन जाती है, संसर्ग की सार्थकता दिखती है। दूसरे उदाहरण में भी कर्ता और

क्रियापद परस्पर असंसक्त हैं। लिंग की दृष्टि से, व्याकरण के अंतर्गत कर्ता असंसक्त है। यहाँ परस्पर व्याकरणिक संसर्ग या संसक्ति का अभाव है। इनका संसक्त रूप इस प्रकार होगा- लड़कियाँ जा रही थीं। तीसरे उदाहरण में धूल और उज्जवल की शाब्दिक संसक्ति नहीं है। इसकी जगह शाब्दिक रूप में संसक्त 'धूल-धूसर' होना चाहिए। चौथा वाक्य भी कारक-प्रयोग की दृष्टि से असंसक्त है। इसे 'वह घर में है' होना चाहिए, न कि वह घर से है। यहाँ 'में' से संसक्ति बनती है। पाँचवा उदाहरण भी अर्थ-संसक्ति की दृष्टि से असमीचीन है। 'काली चट्टान' तक तो ठीक है, पर काली चट्टान का विवाह रचाना अर्थ की दृष्टि से संसक्त नहीं है। इसी तरह उछलते-फांदते निर्झर में भी अर्थ की दृष्टि से संसक्ति नहीं बनती और वाक्यांत में काली चट्टान का निर्झर से विवाह रचाना भी अर्थ की दृष्टि से असंसक्त है। फलतः अस्वीकार्य है।

पश्चिमी संसक्ति की अवधारणा अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह संसक्ति वाक्य की बाह्य संरचना और गहन संरचना स्तर दोनों ही पर स्वीकार्यता देती है। अतः भारतीय भाषाचिंतन में अद्यतन 'संसक्ति' की पश्चिमी अवधारणा हमें रंच-मात्र नहीं चौंकाती, बल्कि भारतीय परंपरा की इस अवधारणागत समृद्धि पर गौरवान्वित करती है।

भर्तृहरि और देरिदा का अर्थचिंतन : तुलनात्मक संदर्भ

भर्तृहरि भारतीय व्याकरण के आचार्य और दर्शन के भी ज्ञाता हैं। देरिदा फ्रांसीसी दार्शनिक है पर वह भाषा-दर्शन पर भी विचार करता है। दोनों केंद्रीय रूप में अर्थ पर विचार करते हैं। भर्तृहरि वाक्यपदीय में व्याकरण के साथ अर्थ का अनिवार्य अंतःसंबंध बिठाते हैं देरिदा पाठ (Text) के संदर्भ में अर्थ पर विचार करता है। भर्तृहरि आरंभ में यह स्पष्ट कर देते हैं कि शब्द से जो अर्थ-ग्रहण होता है वह वस्तुगत अर्थ नहीं होता, बल्कि पदगत अर्थ होता है। यहीं वह 'जाति' जैसे पारिभाषिक का व्यवहार करते हैं और बताते हैं कि शब्दों के श्रवण-मात्र से वक्ता के चित्त में जो भाव उत्थित-उपस्थित होते हैं वह 'जाति' है। इस जाति के अंतर्गत वाक्यगत अर्थ के साथ पदगत अर्थ भी आएगा और उस पद के द्वारा संकेतित प्रतीयमान अर्थ भी आएगा।

यद्यपि भर्तृहरि व्याकरण के संदर्भ में अर्थ का अनिवार्य निरूपण करते हैं, पर यह अर्थ साहित्यपाठ या काव्यपाठ के संदर्भ में भी अपनी चरितार्थता दिखाता है।

भर्तृहरि प्रतिभा वाक्यार्थ की बात करते हैं। यानी श्रोता अपनी प्रतिभा से वाक्य का अर्थ ग्रहण करता है। भर्तृहरि वाक्य की अखंडता में अर्थ को ग्रहण करते हैं। वह साकल्य में अर्थ को ग्रहण करते हैं। पश्चिम की यह संरचनावादी दृष्टि बीसवीं सदी की है। वाक्य में प्रयुक्त पदों के क्रमिक संसर्ग से निकलने वाला अर्थ उन्हें अभीष्ट नहीं है। इसलिए वह अन्विताभिधानवादी नहीं होकर अभिहितान्वयवादी हैं। देरिदा भी साकल्य में अर्थ की बात करता है। जाति जैसे किसी पारिभाषिक का व्यवहार या प्रतिभा जैसे पारिभाषिक का व्यवहार देरिदा नहीं करते। पर वह पाठक-भावक पर बल देते हैं। यह पाठक प्रतिभावान होता है। इसे ही पश्चिमी चिंतन में योग्य (Able/fit) पाठक कहा

गया है। शब्दों के श्रवण से जो अर्थ प्रतीत होता है वही जाति है। यानी जो अर्थ श्रोता को ज्ञात हुआ या विदित हुआ, वही जाति है। देरिदा के यहाँ प्रतिभा या जाति जैसा कोई शब्द या पारिभाषिक नहीं है, लेकिन देरिदा जब यह घोषणा करता है कि जो अर्थ वाक्य में उपस्थित है, वह वस्तुतः अर्थ है ही नहीं और जो अनुपस्थित है, वही उसका वास्तविक अर्थ है, तब वह भर्तृहरि की इस धारणा को ही अपने द्वारा अर्थग्रहण-प्रक्रिया में अनुभूत रूप में अभिव्यक्त कर रहा होता है। भर्तृहरि कहते हैं कि पदों के क्रमिक संसर्ग से जुड़कर निकलने वाला अर्थ वाक्यार्थ नहीं है। यद्यपि किसी भी श्रोता या पाठक के लिए सामान्यतः उसके सामने यही अर्थ उपस्थित होता है। इसी से देरिदा अपने ढंग से कहते हैं कि जो अर्थ उपस्थित है, वह वस्तुतः अर्थ है ही नहीं। पर जब भर्तृहरि यह कहते हैं कि वाक्य में पदों के क्रमिक संसर्ग के अतिरिक्त एक विशेष अर्थ उपस्थित होता है, जो पदों का अन्वय-मात्र नहीं होता, तब इसके साथ देरिदा की स्थापना पर विचार लीजिए। वह कहता है कि जो अनुपस्थित है, वही अर्थ है। यानी भर्तृहरि का **प्रतिभा-वाक्यार्थ** ही देरिदा का अनुपस्थित अर्थ है। भर्तृहरि अपने चिंतन में बहुत व्यवस्थित हैं, पर देरिदा का अर्थचिंतन उतना व्यवस्थित नहीं है। भर्तृहरि से भी पहले इस चिंतन को दार्शनिकों ने अन्विताभिधान्वयवाद और अभिहितान्वयवाद कहा था। भर्तृहरि वास्तव में अभिहितान्वयवादी है। वह विशेष वाक्यार्थ की बात करते हैं प्रतिभागत अर्थ की बात करते हैं। भर्तृहरि ने भावन शब्द का भी अर्थ के घटक तत्व के रूप में प्रयोग किया है। देरिदा की अर्थग्रहण-प्रक्रिया में उसकी भी सक्रियता है। यद्यपि देरिदा अर्थ की पहचान करना चाहता है, पर सूक्ष्म प्रक्रियाओं की ओर उसका ध्यान नहीं जा पाता है। देरिदा के यहाँ अर्थग्रहण-प्रक्रिया के लिए एक ही नाम मिलता है, वह है अर्थचिह्नन (Tracing)। आशय यह कि वाक्य या पाठ में जो अर्थ निहित है, उसकी खोज या पड़ताल करना। भर्तृहरि उसी के लिए पाठक की दो मूलभूत विशेषताएँ बताते हैं जो क्रमशः **प्रतिभा** और **भावना** है। पाठक में ही वह जाति की प्राथमिक विशेषता का निरूपण करते हैं कि उसे क्या प्रतीयमान हुआ। देरिदा केवल पाठक की बात करते हैं, पर इन सूक्ष्मताओं की ओर उनका ध्यान नहीं जाता।

शब्द के अर्थ-निर्धारण पर विचार करने के क्रम में भर्तृहरि का चिंतन कहीं अधिक महत्वपूर्ण विस्तृत और व्यवस्थित है। भर्तृहरि ने सबसे पहले शब्द को ब्रह्म माना है और शब्द-ब्रह्म की अवधारणा को स्थापित किया है। जिस प्रकार ब्रह्म सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है, उसकी गुणात्मकता अत्यंत व्यापक और गहन है। ठीक उसी तरह शब्द की गुणात्मकता भी अत्यंत व्यापक और गहन है। ब्रह्म की उपलब्धि का कोई एकमात्र मार्ग नहीं है। हम ऐसा नहीं कह सकते कि उसके लिए इसी मार्ग से जाना होगा। अन्य कोई मार्ग नहीं है- नान्यः पन्थाः। उसी तरह शब्द का ऐसा कोई निश्चित अर्थ नहीं है, जिसके सिवा उसका कोई दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता। देरिदा की एक अवधारणा अर्थक्रीड़ा (Play of meaning) की है। यही अर्थ-क्रीड़ा की प्रक्रिया शब्दार्थ को बदलती चलती है। यही उपस्थित अनुपस्थित हो जाता है और अनुपस्थित उपस्थित। अपने शब्द-ब्रह्म की अवधारणा के अतिरिक्त भर्तृहरि भी यह स्वीकार करते हैं कि शब्द का कोई अंतिम अर्थ नहीं होता। यदि हम भर्तृहरि के शब्द-ब्रह्म की अवधारणा की व्याख्या करें; तो यह अर्थक्रीड़ा ब्रह्म की लीला की तरह सिद्ध होने लगती है।

देरिदा का प्रधान पारिभाषिक है डीकंस्ट्रकशन (Deconstruction) यानी विसंरचना, रचना या निर्माण-निर्मिति को खोलना। आशय यह है कि जो रचना है, जो पाठ है, उसको विसंरचित करना उसकी संरचनात्मक गाँठों को खोल देना। भर्तृहरि इसके लिए केवल अर्थग्रहण जैसे शब्द का व्यवहार करते हैं, क्योंकि 'डीकंस्ट्रक्शन' का प्रयोजन अर्थ-ग्रहण ही है। देरिदा का एक और परिभाषिक है डिफ्रेंस 'Differance'। यह एक फ्रांसीसी शब्द है जो अंग्रेजी शब्द से किंचित भिन्न है, क्योंकि इसके मध्य में R के बाद A का प्रयोग किया गया है, E का नहीं। अंग्रेजी difference का अर्थ जहाँ अंतर या भिन्नता है, वहाँ फ्रांसीसी differance के तीन अर्थ हैं— 1. स्थगन, 2. विभेद, और तीसरा अर्थ है 3. विकीर्णन। यानी किसी पाठ का अर्थ लेते समय जो प्राथमिक अर्थ प्राप्त होता है उससे उसके अभीष्ट अर्थ में अंतर पड़ेगा। इसलिए अर्थग्रहण की प्रक्रिया में उस अर्थ को तत्काल ग्रहण न कर उसे स्थगित करना और रुक जाना पड़ता है। दूसरे उसके मिलते-जुलते विभेदक अर्थ हैं। तीसरे को तलाशना पड़ता अर्थ है कि पाठगत वाक्यों और प्रोक्तियों में अर्थ के सूत्र बिखरे होंगे। उन्हें ध्यान से देखना है और तब अर्थग्रहण करना है। अब यह अर्थग्रहण-प्रक्रिया किसी वाक्य या पाठ की जो अर्थोद्‌भावन करेगी, उस अर्थोद्‌भावन के लिए ये बिंदु साधन-मात्र रह जाएँगे। ये बिंदु श्रोता या पाठक को साध्य तक पहुँचाने के माध्यम हैं। भर्तृहरि ने यहाँ यह कार्य प्रतिभा जाति-प्रतिभा-व्यक्ति और भावना से होता है। वही उसे साध्य की ओर उन्मुख कर देता है। यहाँ भर्तृहरि द्‌वारा निर्दिष्ट अर्थग्रहण के घटक-तत्व और उनसे प्राप्त अर्थ ध्यान देने योग्य हैं— 1. प्रतिभा, 2. संसर्ग, 3. संसृष्टि, 4. क्रियापद, 5. प्रयोजन, 6. विधि एवं नियोग और 7. भावना।

भर्तृहरि की एक अन्य अवधारणा भी देरिदा के अर्थचिंतन के संदर्भ में महत्वपूर्ण है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के प्रथम कांड-शब्दब्रह्मकांड में स्फोट की अवधारणा प्रस्तुत की है। स्फोट शब्दार्थ-चिंतन के अंतर्गत आने वाली एक ऐसी अवधारणा है, जिस पर भर्तृहरि के पहले के आचार्यों ने भी विचार किया है। पर भर्तृहरि का स्फोट-चिंतन अत्यंत परिपक्व तथा वैज्ञानिक है। भर्तृहरि दो प्रकार के शब्द मानते हैं— 1. शब्दों का निमित्त रूप। यहाँ शब्द ध्वनि-रूप में उपस्थित होता है तथा 2. शब्दों का स्फोट रूप-यहाँ शब्द अर्थ को उजागर करता है। यानी अर्थान्वेषिता शब्द के स्फोट-रूप में होती है। इस स्फोट-रूप शब्द की अवस्थिति बुद्‌धि में होती है। भर्तृहरि शब्द को क्रमयुक्त मानते हैं, पर स्फोट को अक्रम कहते हैं। अक्रम अर्थात् क्रमहीन। भर्तृहरि के अनुसार स्फोट ही वाचक है। इस स्फोट की अनेक कोटियाँ निर्दिष्ट की गई हैं— 1. वर्ण-स्फोट, 2. पद-स्फोट, 3. वाक्य-स्फोट, 4. अखंडपद-स्फोट, 5. अखंडवाक्य-स्फोट, 6. वर्ण-जाति स्फोट, 7. पद-जाति स्फोट और 8. वाक्य जाति स्फोट। भर्तृहरि ने विद्‌वानों द्‌वारा निर्दिष्ट इन अनेक रूपों में अखंड वाक्य स्फोट (साकव्य) को ही महत्व देते हैं और उसी में वाचकत्व स्वीकार करते हैं। जब देरिदा उपस्थित अर्थ को अर्थ नहीं मानकर अनुपस्थित अर्थ को ही अर्थ मानता है और उसे उपस्थित कर के ही सही अर्थ-बोध मानता है और उसी के पक्ष में अपना मत देता है तब वह प्रक्रिया अखंडवाक्य स्फोट के द्‌वारा ही उपस्थित होती है। इसे प्रतिभा उपस्थित करती है। भर्तृहरि का अखंड वाक्य स्फोट ही देरिदा का अनुपस्थित अर्थ है और भर्तृहरि की **प्रतिभा** में ही 'डिफ्रेंस' के तीनों बिंदुओं— स्थगन, विभेद और प्रकीर्णन का समावेश हो जाता है।

इस तरह हम देखते हैं कि देरिदा के जिस अर्थ–चिंतन ने आज सारी दुनियाँ के भाषाविदों को चमत्कृत–विस्मित किया हुआ है उससे डेढ़ हजार वर्ष पहले भर्तृहरि ने भारतवर्ष में अपने अर्थचिंतन में अर्थग्रहण की प्रक्रिया को कहीं अधिक व्यापकता, गहनता–सूक्ष्मता और वैज्ञानिकता सटीकता के साथ प्रस्तावित–स्थापित कर दिया था। इस ओर भारतीय भाषाविदों और साहित्य–सिद्धांतविदों का ध्यान जाना अत्यंत अपेक्षित है। तभी हम अपनी अर्थचिंतन–सम्पदा के वैशिष्ट और महत्व की सार्थक पहचान–परख कर सकेंगे।

निष्कर्षतः यह कहा जाएगा कि सॅस्यूर, चॉम्स्की, हैलीडे और देरिदा की अनेक स्थापनाएँ भर्तृहरि के यहाँ पहले से अवधारणीकृत और विवेचित हैं। मैंने तो कुछ संकल्पनाओं को ही सामने रखकर उनका पारस्परिक तुलनात्मक निरूपण और विवेचन किया है। अतः पाश्चात्य आधुनिक भाषाचिंतकों की इन संकल्पनाओं को मौलिक रूप में उपस्थापित और प्रतिष्ठित करने का श्रेय नहीं दिया जा सकता। इसका मौलिक श्रेय तो भारतीय भाषा–चिंतक और वैयाकरण भर्तृहरि को प्राप्त है। आज हमें ऐसे विद्वान अध्येताओं और लेखकों की आवश्यकता है, जो संस्कृत भाषा–चिंतन और पाश्चात्य आधुनिक भाषाविज्ञान को अच्छी तरह जानते हों और इनका तुलनात्मक अध्ययन कर भारतीय भाषा–चिंतन की मौलिक अवधारणाओं और उपस्थापनाओं को उद्घाटित–व्याख्यापित कर सकें और अपनी मौलिकता को उपस्थापित–प्रतिष्ठित कर सके। इसके लिए हमें अंग्रेजी में भी लिखने की आवश्यकता होगी।

❑❑

गिरमिटिया हिंदी

—विमलेश कान्ति वर्मा

गिरमिटिया हिंदी से तात्पर्य प्रवासी भारतीयों द्वारा विकसित हिंदी के उस भाषा रूप से हैं जिसे गिरमिट प्रथा के अंतर्गत विदेश गए भारतीयों ने पारस्परिक संपर्क भाषा के रूप में विकसित किया था। यह हिंदी कहीं देश की भाषा डच के साथ पनपी तो कहीं फ्रेंच भाषा के साथ इसने अपना ताल मेल बिठाया तो कहीं अंग्रेजी के साथ यह पनपी और बढ़ी। हिंदी प्रकृति से सदा उदार शीला रही है, हर भाषा के शब्दों से जहाँ उसने अपने शब्द भंडार को बढ़ाया वहीं दूसरी ओर वह संपर्क भाषा के रूप में वह अधिक ग्राह्य भी बनी।

भारतीय जहाँ-जहाँ भी गए, अपने साथ अपनी संस्कृति, अपना साहित्य और अपनी भाषा ले गए। वे जिस देश में भी रहे, वहाँ की भाषा तो उन्होंने सीख ली, किंतु अपनी मूलभाषा को वे भूले नहीं, अपितु उसे अमूल्य निधि के समान सुरक्षित रखते हुए उसके सम्मान तथा उसकी सुरक्षा के प्रति हमेशा सजग रहे। वे यह मानते रहे कि अपनी संस्कृति को बचाए रखने का मूल मंत्र अपनी भाषा की सुरक्षा तथा उसका सम्मान है। मॉरीशस के प्रतिष्ठित साहित्यकार अभिमन्यु अनत की अपनी भाषा हिंदी के प्रति प्रतिबद्धता देखिये— वे लिखते हैं—

छीनने नहीं दूँगा, तुम्हें लेकिन;
अपनी पहचान, अपनी भाषा।

यही बात मॉरीशस के प्रख्यात कवि मुनीश्वर लाल चिंतामणि इस प्रकार कहते हैं—

उस आदमी से जाकर कहो,
कि मेरी हिंदी भाषा का वह अभिनंदन करे।
हिंदी मेरा अपना जीवन है,
हिंदी मेरे जीवन का भी जीवन है।

अपनी हिंदी के प्रति यही प्रेम भाव मॉरीशस से हजारों मील दूर करेबियन सागर के तट पर बसे हुए देश सूरीनाम के राष्ट्र कवि पंडित हरिदेव सहतू के मन में भी है वे अपनी कविता 'महतारी भाषा'

में कहते हैं कि अपनी भाषा बोलो। हिंदी का कोई भी रूप हो चाहे खड़ी बोली हो, अवधी हो या भोजपुरी हो अपनी बानी बोलो, यही हमारी अपनी है और हमें इससे बहुत प्यार है—

हम तोहके का बोली
बोली बोली
भाषा बोली
अवधी कि भोजपुरी
हम तोहके का बोली
सरनामी कि सरनामी हिंदी
हिंदुस्तानी कि सरनामी हिंदुस्तानी
हम तोहके का बोली
मानक हिंदी कि खड़ी बोली
टूटल भाषा कि अईली गइली
हम तोहके का बोली
अपन भाषा में एक बात बोली
तोहसे हम्मे बहुत है प्यार
महतारी भाषा हमार।

फीजी के कवि काशी राम कुमुद भी कहते हैं—

उन्मादित हूँ बीच-बीच में हिंदी का अलख जगाते हैं।
हम रक्त बिंदुओं से सींच-सींच हिंदी बिरवा पनपाते हैं॥

अपनी भाषा के प्रति लगाव सभी गिरमिटवंशियों की रचनाओं में देखने को आपको मिलेगा। फीजी, मॉरीशस, सूरीनाम, ट्रिनिडाड, गुयाना, दक्षिण अफ्रीका जैसे देशों में हिंदी भरतवंशियों के मध्य आज भी मातृभाषा के रूप में बोली जाती है तथा उसे वहाँ सम्मानित स्थान प्राप्त है पर इनमें से कई देशों में हिंदी लुप्त होने के कगार पर है जिसकी सुरक्षा के लिए आज प्रयत्न आवश्यक है।[1]

भाषा की प्रतिष्ठा उसके बोलनेवालों की सामाजिक प्रतिष्ठा से जुड़ी होती है। भारतीय भी विश्व के अनेक देशों में आजीविका की खोज में सुनहरे भविष्य का सपना लिए हुए यायावर के रूप में तो कहीं मजदूरों के रूप में गए थे, किंतु अपने परिश्रम, लगन तथा ईमानदारी से वे हर देश में सुशिक्षित, सुप्रतिष्ठित तथा सम्मानित नागरिक बन गए। उनकी उन्नत सामाजिक स्थिति के कारण ही उनकी भाषा भी सम्मानित भाषा बनी।

भारतीय आप्रवासन और प्रवासी भारतीय समाजः

भारतीय आप्रवासन का इतिहास कम से कम पंद्रह सौ वर्ष पुराना है और इस भारतीय आप्रवासन को हम तीन प्रमुख चरणों में बाँट कर देख सकते हैं। भारतीय आप्रवासन के पहले चरण

का प्रारंभ उस समय से मानना चाहिए जब राजस्थान, गुजरात तथा पंजाब प्रांत के बंजारे अपनी यायावरी प्रवृत्ति के कारण भारत छोड़कर बाहर निकले और यूरोप, अमेरिका होते हुए वे सारे विश्व में फैल गए। ये रोमा कहलाये, कहीं ये सिगनी कहलाये तो कहीं इन्हें जिप्सी नाम दिया गया। इन्हें नाचना-गाना प्रिय था, अपने समूहों में रहते थे, घूमते रहते थे और जहाँ मन किया वहीं डेरा डाल लिया और रम गए। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने इन्हें घुमुंतु नाम दिया। भारत में ये घुमुंतु बंजारे, बड़गूजर सिकलीगर, जात, सिंधी पशुपालक समुदाय तथा विश्वकर्मा वर्ग के थे। इनकी भाषा रोमानी है जो हिंदी की शब्द संपदा तथा हिंदी की व्याकरणिक संरचना वाली है और राजस्थानी हिंदी के ग्रामीण रूप से बहुत मिलती है जिसमें मराठी, गुजराती तथा कश्मीरी आदि भारतीय भाषाओं के भी बहुत से शब्द आ गए हैं।

भारतीय आप्रवासन का दूसरा चरण 19वीं शती के पूर्वार्ध से प्रारंभ होकर 20वीं शती के उत्तरार्ध तक का समझना चाहिए। यह वह समय है जब ब्रिटिश और डच आदि उपनिवेशों में मजदूरी करने के लिए भारतीयों को गिरमिट प्रथा के अंतर्गत बहला फुसलाकर और लालच देकर विदेश भेजा गया। इन प्रवासी भारतीयों का बड़ा दल सबसे पहले मॉरीशस (1834 ई.) फिर ट्रिनिडाड (1845 ई.), दक्षिण अफ्रीका (1860 ई.), गुयाना (1870 ई.), सूरीनाम (1873 ई.) तथा फीजी (1879 ई.) समुद्री जहाज से पहुँचा था। इन देशों को जाने वाले भारतीय सामान्यत: पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा पश्चिमी बिहार के थे। वे अवधी तथा भोजपुरी बोलते थे। कुछ भारतीय खड़ीबोली का भी प्रयोग करते थे। अन्य प्रदेशों से जाने वाले भारतीय संख्या में इतने कम थे कि उनके बीच पारस्परिक व्यवहार की संपर्क भाषा अवधी और भोजपुरी ही रही, जिनमें कुछ अन्य भाषाओं के शब्दों का भी समुद्री यात्रा के दौरान समावेश हो गया। विदेशी भूमि पर कदम रखने के बाद वहाँ के मूल निवासियों तथा अंग्रेज अफसरों आदि से जब उनका संपर्क हुआ तो वहाँ के कुछ शब्द भी उनकी हिंदी में प्राय: तद्भव रूप में सम्मिलित हो गए। धीरे-धीरे उनकी शुद्ध अवधी या शुद्ध भोजपुरी का रूप बदलने लगा और एक नई भाषिक शैली का विकास हुआ। इसी प्रकार अनेक भाषिक शैलियाँ पनपीं, जिनके नए नामकरण भी कर दिए गए क्योंकि वे भारत में बोली जाने वाली हिंदी से बहुत भिन्न थीं तथा इनमें स्थानीय भाषा का प्रभाव भी पर्याप्त मात्रा में दिखाई पड़ता था। फीजी में बोली जाने वाली हिंदी को वहाँ के प्रवासी भारतीय फीजीबात कहते हैं, सूरीनाम की हिंदी को सरनामी, सरनामी हिंदुस्तानी या सरनामी हिंदी कहा जाता है तथा दक्षिण अफ्रीका की हिंदी को नेटाली। इन शैलियों का व्यवहार प्रवासी भारतीय अधिकांशत: घर में तथा अनौपचारिक बातचीत में करते हैं। इसमें साहित्यिक रचना बहुत कम होती है, पर साहित्यिक रचनाओं में इनका प्रभाव निश्चय ही देखा जा सकता है। चूँकि इन नई भाषिक शैलियों में साहित्य लेखन बहुत कम होता है, इसलिए इनका स्वरूप वहाँ के हिंदी लोकगीतों में या बोलचाल की भाषा में ही देखने को मिलेगा।

भारतीय आप्रवासन के तीसरे चरण का प्रारंभ भारत की स्वाधीनता के बाद से अर्थात 1947 के बाद से समझना चाहिए। स्वेच्छा से अपने देश को छोड़कर उच्च शिक्षा के निमित्त या बड़े और प्रतिष्ठित पदों पर काम करने के निमित्त या अपने व्यापार को व्यापक बनाने के लिए भारतीय विदेश

गए। विदेश में बसे ये भारतीय नियमित रूप से भारत आते–जाते रहते हैं। आज विदेश में इनकी दूसरी और तीसरी पीढ़ी है। अपने नए अपनाए देश में आर्थिक दृष्टि से संपन्न होते हुए भी वहाँ की संस्कृति में वे घुल मिल नहीं पाए। वे उस देश में धन कमाने आये एक व्यापारी के रूप में देखे जाते हैं। प्रतिष्ठित प्रवासी साहित्यकार सुषुम बेदी[2] अपने उपन्यास 'हवन' में उनकी स्थिति बताते हुए बड़े खुले शब्दों में कहती हैं–

"हर हिंदुस्तानी यहाँ एक व्यापारी है, अमेरिका के एक बड़े बाजार में हिंदुस्तानी अपनी प्रतिभा, ज्ञान, कौशल और अनुभव को लेकर आता है और खुद को चढ़ा देता नीलामी पर। अच्छा दाम लग जाए तो क्या खूब बढ़िया–सी नौकरी, सुंदर सा घर, नमकीन सी बीवी और बलार्ड गर्लफ्रेंड सबका सौदा हो जाता है। न बढ़िया दाम लगे तो भी बैरा या दुकानदार की नौकरी ही सही। ले देकर किसी को यह सब घाटे का सौदा नहीं लगता।"[2]

प्रवासी भारतीय और हिंदी:

प्रवासी भारतीयों ने जिस दिन विदेशी भूमि पर पदार्पण किया उसी दिन से उन देशों में हिंदी का वृक्षारोपण हुआ समझना चाहिए।

विदेश में बसे हुए प्रवासी भारतीयों में सबसे बड़ी संख्या हिंदी भाषी भारतीयों की ही रही है। इसका कारण भी यही है कि हिंदी भारत में सबसे बड़े भूभाग की भाषा है। देश का आधा भूभाग हिंदी का मातृभाषा भाषी क्षेत्र है। देश के 11 प्रदेशों की मातृभाषा हिंदी है। देश की दो तिहाई जनता हिंदी का मातृभाषा के रूप में प्रयोग करती है पर हिंदी का यह प्रयोग मानक हिंदी का नहीं, यह प्रयोग हिंदी की 17 प्रधान उपभाषाओं का है इसलिए जो भारतीय आप्रवासन के द्वितीय चरण में विदेश (मॉरीशस, सूरीनाम, त्रिनिदाद, फीजी, दक्षिण अफ्रीका देशों में) गिरमिट प्रथा के अंतर्गत गए वे अधिकांशत: हिंदी पट्टी के थे और हिंदी की किसी न किसी उपभाषा के बोलने वाले थे। यही कारण है कि अपने–अपने समुदायों में वे अपनी उपभाषा या बोली का प्रयोग सामान्यत: करते हैं। बड़े बहु उपभाषा भाषी समुदाय में खड़ीबोली या मानक हिंदी–परिनिष्ठित हिंदी का प्रयोग करते हैं क्योंकि वह सर्वाधिक बोधगम्य भाषा माध्यम है।

भवानी दयाल संन्यासी[3] ने अपनी 'प्रवासी की आत्मकथा में' दक्षिण अफ्रीका में विविध भारतीय भाषाओं के बोलने वाले जिनमें दक्षिण भारत के तमिल, तेलुगु, मलयालम आदि भाषाओं के बोलने वाले भी प्रवासी भारतीय संख्या में बहुत थे और हिंदी भाषी कम पर उन सबके बीच हिंदी ही माध्यम भाषा कैसे बनी इसका बड़ा जीवंत विवरण प्रस्तुत किया है।

प्रवासी हिंदी और मानक हिंदी - भाषा द्वैत की स्थिति:

फ़ीजी, मॉरीशस, सूरीनाम, दक्षिण अफ्रीका सभी देशों में हिंदी के संदर्भ में भाषा द्वैत की स्थिति दिखेगी। प्रवासी हिंदी प्रवासियों की बोलचाल की भाषा है और प्रवासी भारतीय समाज में

सामान्यत: उसी बोलचाल के रूप का प्रयोग होता है पर औपचारिक अवसरों पर प्रवासी भारतीय मानक हिंदी के प्रयोग का प्रयत्न करते हैं।

प्रवासी भारतीयों ने सभी देशों में अपनी भाषा को टूटी-फूटी, अव्याकरणिक और अइली-गइली आदि नाम दिए और मानक हिंदी की तुलना में अपनी बोलचाल की भाषा को महत्व नहीं दिया पर बोलचाल की भाषा प्रवासी भारतीयों के मध्य वही रही क्योंकि वह उनकी अपनी भाषा थी, उसका ही वे परिवार में प्रयोग करते थे पर औपचारिक अवसरों पर वे मानक हिंदी या खड़ीबोली के प्रयोग की कोशिश करते हैं। वे स्पष्टत: यह भी कहते हैं कि उनकी अपनी मातृभाषा वह हिंदी है जो उनके यहाँ विकसित हुई है न कि मानक हिंदी। मानक हिंदी भारत की हिंदी है।

प्रवासी भारतीयों की दृष्टि में मानक हिंदी या शुद्ध हिंदी भारत में बोली जाने वाली परिनिष्ठित खड़ी बोली है। प्रवासी भारतीय इसी मानक हिंदी को सीखना चाहते हैं। वहाँ मानक हिंदी में ही समाचार पत्र छपते हैं, रेडियो तथा दूरदर्शन में भी इसी मानक हिंदी का प्रयोग होता है और सामाजिक अवसरों पर भाषण आदि में भी मानक हिंदी को ही प्रतिष्ठा प्राप्त है। विद्यालयों में भी मानक हिंदी ही सिखाई जाती है। बोलचाल की हिंदी का, जिसका विकास प्रवासी भारतीयों द्वारा स्वयं किया गया है, प्रयोग आपसी बातचीत में ही होता है। यही कारण है कि बोलचाल की हिंदी पर भाषा की दृष्टि से प्रवासी भारतीयों ने कोई विशेष अध्ययन अनुसंधान की बात नहीं सोची।

विदेशी विद्वानों ने प्रवासी भारतीयों के मध्य प्रचलित हिंदी की नई शैलियों के महत्व को समझा क्योंकि उनके निकट आने का, उनसे घुलने-मिलने का सबसे सहज तरीका उनकी अपनी भाषा को समझना तथा उस पर अधिकार प्राप्त कर लेना था। यही कारण है कि विदेशी विद्वानों ने प्रवासी भारतीयों द्वारा बोली जाने वाली हिंदी की विविध भाषिक शैलियों पर विविध दृष्टियों से कार्य किया, इसका व्याकरण तैयार किया, अंग्रेजी-हिंदी द्विभाषी कोश तैयार किए और उनके महत्व को आंका।

विभिन्न देशों में बसे हुए भारतीयों के साथ हिंदी वटवृक्ष के समान विश्व में फैलती गई और उसके अनेक रूप हो गए।[4] अलग-अलग देशों में अलग-अलग रूपों में वह भारतीयों की संपर्क भाषा बनी। भारतीयों ने उसकी सुरक्षा, संरक्षा और प्रतिष्ठा के लिए तन-मन-धन अर्पित भी किया।

विदेशों में प्रचलित हिंदी के विविध भाषिक रूप निम्नलिखित हैं—

फीजी हिंदी / फीजीबात:

फीजी में भारतीयों के मध्य बोली जाने वाली हिंदी फीजीबात या फीजी हिंदी कही जाती है। कुछ वर्ष पूर्व तक फीजी में बसे भारतीय मूल के लोगों की संख्या देश की संपूर्ण जनसंख्या की 52 प्रतिशत थी। इन सभी के मध्य फीजी हिंदी आपसी व्यवहार की भाषा है। फीजी हिंदी संपूर्ण देश में भारतीयों के मध्य तो बोली और समझी जाती ही है, वहाँ के मूल निवासी काईबीती भी फीजी हिंदी बोलते और समझते हैं।

फीजी में हिंदी के दो रूप देखने को मिलेंगे। घर पर तथा अनौपचारिक अवसरों पर एक भारतीय जिस हिंदी का व्यवहार करता है उस हिंदी का विकास उसके पूर्वजों द्वारा फीजी में हुआ। यह हिंदी का सहज बोलचाल का रूप है। औपचारिक अवसरों पर जिस हिंदी का प्रयोग एक भारतीय करना चाहता है वह हिंदी का परिनिष्ठित रूप है तथा इसको वह भारत की हिंदी कहता है। सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा साहित्यिक मंच पर एक भारतीय इस परिष्कृत हिंदी का प्रयोग करता है और अपनी बोलचाल की हिंदी को इस परिष्कृत हिंदी की तुलना में अपरिष्कृत, अशुद्ध तथा टूटी-फूटी भाषा भी कहता है।

आज का प्रवासी भारतीय बोलचाल की हिंदी के महत्व को पहचानता है, अपनी बोलचाल में इसी हिंदी का प्रयोग करता है। उसे यह लगता है कि परिनिष्ठित हिंदी उसे सीखनी तो चाहिए किंतु उसकी अपनी जो हिंदी है, जो विदेशी परिवेश में उसके अपने पूर्वजों द्वारा विकसित की गई है वही उसकी भावाभिव्यक्ति का सहज तथा प्रभावशाली माध्यम बन सकती है।

फीजी हिंदी पर कई विदेशी विद्वानों ने परिश्रम करके महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे हैं। रोडने मोग ने फीजी हिंदी शीर्षक से पुस्तक प्रकाशित की है जिसमें फीजी हिंदी की व्याकरणिक विशेषताओं पर विस्तार से प्रकाश डाला है। सूजनहाब्स जो फीजी में कुछ वर्षों के लिए पीस कोर वालंटियर के रूप में आई थीं, उन्होंने फीजी हिंदी-अंग्रेजी द्विभाषी शब्दकोश प्रकाशित किया है। जे. एफ. सीगल ने भी "से इट इन फीजी हिंदी" नामक अपनी पुस्तक में फीजी हिंदी के लालित्य तथा उसकी भाषिक क्षमता पर अपनी टिप्पणी देते हुए उसकी महत्ता का परिचय दिया है और उसे फीजी में विकसित हिंदी की एक विशिष्ट भाषिक शैली कहा है जो भारत में बोली जाने वाली हिंदी से नितांत भिन्न है। सीगल का विचार है जैसे विश्व में अंग्रेजी की कई भाषिक शैलियाँ विकसित हुई हैं और जो ब्रिटिश इंगलिश से पर्याप्त भिन्न हैं, उसी प्रकार फीजी हिंदी भी अपनी व्याकरणिक तथा उच्चारणगत विशेषता के कारण हिंदी से पर्याप्त अलग है।

"फीजीबात" या "फीजी हिंदी" न तो भोजपुरी है और न ही अवधी। वह हिंदी की फीजी में विकसित एक नई भाषिक शैली है, जिसमें भोजपुरी की शब्दावली पर्याप्त मात्रा में है, अवधी की रचना के तत्व भी उसमें दिखाई पड़ेंगे तथा अंग्रेजी और काईबीती की शब्दावली को भी ग्रहण कर उसने अपना अलग रूप बनाया है, जैसे मोतो (मोती), यंगोना (फीजी का एक लोकप्रिय पेय), तांबुआ (घड़ियाल का दांत), कोरो (फीजियन गाँव), लाली (काष्ठ वाद्य) आदि।[6]

फीजी हिंदी को साहित्यिक प्रतिष्ठा प्रो. सुब्रमनी ने अपने दो बृहत् उपन्यास 'डउका पुरान' और 'फीजी माँ', प्रो. ब्रिज विलास लाल ने 'मारिट', रेमंड पिल्लई ने 'अधूरा सपना', बाबूराम शर्मा और महेन्द्र चन्द्र शर्मा 'विनोद' कुशल सिंह, ठाकुर रंजीत सिंह 'फीजी पंडित' ने अपने व्यंग्यपूर्ण निबंधों द्वारा दी है।[7]

भाषा नमूनाः

ज्वालासिंह – "पता नहीं का का संस्कीरत में उलटा सीधा बक दियो। अईसे खली बोल देवे से का कोई उपाधि मिल जावे है। उपाधि भीड़ सामने माला पहिराये के देवा जाये है। सम्मान में लम्बा चौड़ा भासन देवा जाये है। हियाँ लोग कवि के कदर का जाने? कवि लोगन के कदर तो हिंदुस्तान के राजे–महाराजे करअत रहिन।"

हम बोला – "अब न वईसन टेम है अउर न वईसन कवि! कोई राहता चलते कवि नहीं बन जाता ई कला तो भगवान के देन है। का कहत हैं, सूर सूर तुलसी ससी, उडुगन केसवदास अबके कबि खदोत सम, जहाँ तहाँ करत परकास।"

—बाबू राम शर्मा

सरनामी हिंदी / सरनामी हिंदुस्तानी / सरनामीः

सूरीनाम में भारतीयों का प्रवेश 1873 ई. में हुआ। आज सूरीनाम में भारतीय मूल के लोगों की संख्या 39 प्रतिशत है जबकि वहाँ 35 प्रतिशत नीग्रो, 18 प्रतिशत इंडोनेशियन तथा 8 प्रतिशत अन्य जातियों के लोग रह रहे हैं। इस प्रकार संपूर्ण देश में भारतीयों की संख्या सबसे अधिक है। इन भारतीयों के मध्य आपसी बोलचाल की भाषा हिंदी है। इसी हिंदी को सरनामी हिंदी, सरनामी हिंदुस्तानी या सरनामी संज्ञा से अभिहित किया गया है। सरनामी हिंदी भी अवधी, भोजपुरी, ब्रज तथा खड़ीबोली का मिश्रित स्वरूप प्रस्तुत करती है।[8]

सूरीनाम में सरनामी हिंदी में साहित्य सृजन हो रहा है। अमर सिंह रमण, सूर्य प्रसाद बीरे, जीत नारायण, सुरजन परोही, आशा राजकुमार, हरिदत्त लछमन 'श्रीनिवासी' आदि सूरीनाम के प्रसिद्ध हिंदी लेखक हैं जो अपनी रचना सरनामी हिंदी में लिख रहे हैं।[9] इनकी रचनाएँ भारतीय समाज में बड़े चाव से पढ़ी और सुनी जाती हैं।

भाषा नमूनाः

हम कैसे भुल दी
हम हैं हिंदुस्तानी अयन हरी भरी देस
के छोड़ के काहे हम
जाए परदेस
खाइ का हे खात
कोइ और के निमक
जब अपने घर में
है दूध मात
हम कैसे मुलाई
हम हैं हिंदुस्तानी

—आशा राजकुमार (चांदनी) : हिंदुस्तानी

नेटाली हिंदी : नेटाली:

दक्षिण अफ्रीका में बसे हुए भारतीय मूल के लोगों के बीच बोली जाने वाली हिंदी की विशिष्ट भाषिक शैली को नेटाली नाम से अभिहित किया जाता है। दक्षिण अफ्रीका चार प्रांतों में बंटा हुआ है– नटाल, केप, आरेंज फ्री स्टेट तथा ट्रांसवाल। दक्षिण अफ्रीका के महानगर डरबन में भारतीय मूल के निवासी सबसे अधिक हैं। यहाँ पर बोली जाने वाली हिंदी जो कि भोजपुरी हिंदी का एक विशिष्ट रूप है, भारतीयों के मध्य बोली जाती है। नटाल में प्रमुखत: हिंदी का व्यवहार होता है। इसलिए यहाँ की हिंदी को नेटाली नाम से अभिहित किया गया है।[10]

आज दक्षिण अफ्रीका में नेटाली बोलने वाले भारतीय मूल के लोग अधिक नहीं हैं, यही कारण है कि नेटाली में साहित्य लेखन बहुत कम होता है। वहाँ के लोकगीतों में ही नेटाली का रूप देखने को आज मिल सकता है। भोजपुरी लोकगीतों का एक विशिष्ट रूप, जिसे "चटनी" नाम से संबोधित किया जाता है, आजकल प्रतिष्ठित भारतीय समाज में बहुत लोकप्रिय हो चुका है। विवाह के अवसरों पर इनकी माँग बहुत बढ़ गई है क्योंकि पश्चिमी डिस्को की शैली में ढले ये भोजपुरी लोकगीत आधुनिक फैशन के प्रतीक बन गए हैं। इन चटनी लोकगीतों ने भारतीय समाज के सांस्कृतिक तथा भाषिक मूल की ओर भारतीयों को फिर से आकर्षित किया है। यह नेटाली हिंदी है, जो भारतीयों को उनके मूल भारत से तथा उनके कर्मक्षेत्र दक्षिण अफ्रीका से जोड़े हुए हैं।[11]

भाषा नमूना:

भगत– अरे डेम फूल! वो सुन घंटी बजी। चल काम पर चलें। तोहार घर कासी में न हो भगतिन?

भगतिन– हाँ, भगत! ओही कासी दिहलन फाँसी। ओही कासी में रहत रहलीं फिर हुंआ से कलकत्ता चल गयल रहलीं और उहंई से हियां अइली हैं। आज काल में हमका गदेला होवै वाला है। अब बताओ हम कइसे काम करी।

भगत– चुप रह, चुप। देख साहब आवत हौवन। चल हियां से चल देइ अपने काम पर।

भगतिन– हम कइसे काम पर जाई। मौरे बुते काम न होइ। देखो साहब आवत हौवत, उनकीन के पांव पड़कर आपन दुख कहब। (साहब आगया) साहब। हम गरभ से हई, जल्दी गदेला होने वाला बा। हम काम नाही कर सकत हई।

साहब– यू रास्कल, टुम काम छोड़ डेना चाहटा है। हम टुमारा बोटी बोटी काट डालेगा।

भगतिन– नाहीं साहेब, हम काम छोड़ के कहां जाइब? गदेला होय जाई ते फिर हम काम करब। दुई चार दिंनां का हमका छुटी देव।

साहब– उल्लू का पट्ठा डैम, सूवर कुली। बहुत बाट करता है। जल्दी काम पर जाओ नहीं टो अबी हम टुमको ठीक कर देगा।

भगतिन— हाय विधाता, हम का कही, साहब नाहीं मानता हौवन। भला साहब तौहरी बीबी के पेट में बच्चा रहित तब का तू वोहू से काम लई सकतौ।

साहब— लोग, चुप रह, हम तुमसे पोलिटिक्स नहीं करटा। एक डफा में बोलो, काम करेगा कि नहीं।

भगतिन— हम करब साहब, लेकिन........

—भवानी दयाल संन्यासी - नेटाली हिंदू

त्रिनिदादी हिंदी:

त्रिनिदादी हिंदी से तात्पर्य, त्रिनिदाद देश की उस बोलचाल की हिंदी से है जो त्रिनिदाद में आये गिरमिटियों के बीच संपर्क भाषा के रूप में विकसित हुई थी और आज भी प्रवासी भारतीयों की चौथी और पाँचवी पीढ़ी के बुजुर्गों द्वारा पारस्परिक बोलचाल में सुनी जा सकती है। त्रिनिदाद और टोबागो में बोली जाने वाली हिंदी को त्रिनिदाद में विभिन्न नाम दिए गए हैं। ये त्रिनिदादी हिंदुस्तानी, त्रिनिदादी भोजपुरी, प्लांटेशन हिंदुस्तानी और गाँव की बोली के नाम से भी कही जाती है। पर धीरे-धीरे अंग्रेजी की वर्चस्विता के कारण त्रिनिदाद में हिंदी का स्थान अंग्रेजी लेती जा रही है और त्रिनिदादी हिंदी लुप्त होने के कगार पर है।[12]

आज त्रिनिदाद की जनसंख्या में भारतीय मूल के लोगों का प्रतिशत वर्ष २011 के आंकड़ों के अनुसार 37.6% है जो सबसे अधिक है। भारतीयों के बाद दूसरे स्थान पर अफ्रीकन जनसंख्या 36.3% है। 1845 से 1917 के बीच जो भारतीय त्रिनिदाद आये वे अपने साथ भोजपुरी और अवधी लाये थे। बाद के दिनों में तमिल भाषी भी त्रिनिदाद पहुँचे पर हिंदी भाषी भारतीयों की अधिकता के कारण तमिल का संपर्क भाषा के रूप में प्रयोग न हो सका और हिंदी का संपर्क भाषा के रूप में विकास हुआ।

त्रिनिदाद आये भारतीयों ने त्रिनिदाद में प्रचलित अंग्रेजी सीखी पर घरों में बोलचाल के रूप में वे अवधी मिश्रित भोजपुरी का ही प्रयोग करते रहे। पर त्रिनिदादी हिंदी केवल अवधी और भोजपुरी का मिश्रित रूप मात्र ही नहीं है वरन् उसमें त्रिनिदाद में बोली जाने वाली अन्य भाषाओं के शब्दों का ऐसा और इतना मिश्रण हो गया है कि उनकी हिंदी भारत की हिंदी से बहुत अलग दिखती है।[13]

हिंदुस्तानी का आज जो स्वरूप त्रिनिदाद में रह गया है वह हिंगलिश के रूप जैसा है जिसमें अंग्रेजी अधिक है और हिंदी की शब्दावली या पदबंधों का प्रयोग मात्र है। आज बहुत से भारतीय मूल के त्रिनिदादी अपनी प्रार्थनाएँ और भजन हिंदुस्तानी में ही गाते हैं पर बोलचाल की भाषा के रूप में वह धीरे-धीरे लुप्त सी ही है। करेबियन 'चटनी संगीत' में हिंदी शब्दों का प्रयोग तो दिखता है जो यह भी संकेत देता है कि बोलचाल के रूप में अब हिंदी लुप्त होती दिख रही है। आवश्यकता है हिंदी के लुप्त होते रूप के पुनरुर्द्धार का जो हिंदी के वैश्विक स्वरूप को पुष्ट करेगी।

भाषा नमूना:

सिख ले भइया, कोनो दिन काम आई। तोहार बाप भला आदमी रहल। जब वरका होवे और पैसा कमैरे और भगवान के दया होइ त तुमहूँ हुआ जैबे जौन देस से तोर बाप आइल रहल– इ हमार महतारी के वात ह और कौन चीज हमके सिके के परल? जिला गोरखपुर, ठाना सेमरा पोस्ताफिस पुरन्दरपुर, गाँव महादेवा दुवेका। हदस के साथ हम ई बात के सिख ले ली। हम वर्का भइलीं। हम पैसा कमैली। हम गइली जहाँ से हमार बाप आइल रहल। हुआ के माती हम उठाइ के माथे चढ़ैली। हामार बाप के किरिया करम ऊनीस सौ छबिस में भइल रहल। हम पहुंचिन तीस बरस के बाद। सब पुरनियन लोग मर मिटाइल रहल। कोई कोई के ख्याल रहल की हाँ कपिल देव टापू गइल रहले।

साभार + पंडित शम्भु नाथ कपिल देव, त्रिनिदाद

गयानी भोजपुरी:

दक्षिण अमेरीका में गयाना अकेला देश है जहाँ अंग्रेजी देश की राजभाषा है और जनवर्ग गयानी क्रियोल जो अंग्रेजी आधारित क्रियोल है, बोलता है।

आज वहाँ बसे भारतीय इन्हीं भारतीय गिरमिटियों के वंशज हैं और 174 वर्ष पूर्व पूर्वजों की भारतीय संस्कृति, परंपरा एवं रीति–रिवाज का आज भी पालन कर रहे हैं।

गयाना देश की राजभाषा अंग्रेजी है और शिक्षा प्रशासन, जनसंचार तथा अन्य क्षेत्रों में आज अंग्रेजी का प्रयोग होता है। अधिकांश जनता गयानी क्रियोली का प्रयोग करती है पर सांस्कृतिक और धार्मिक अवसरों पर भारतीय भाषाओं का प्रमुखत: हिंदी का प्रयोग होता है जो निरंतर घटता जा रहा है। गयानी क्रियोल अंग्रेजी, अफ्रीकन तथा हिंदी शब्दों के मिश्रण से निर्मित बोली है। भारतीय और अफ्रीकी जातीय समुदाय के मिश्रण से यहाँ की संस्कृति बहुत कुछ त्रिनिदाद की संस्कृति जैसी है। सतुआ, फुलौरी, परसाद और दाल पूरी आदि कितने ही हिंदी के शब्द हैं जो गयाना में आपको जनसमाज के बीच सुनाई पड़ेंगे।

गयानी भोजपुरी वहाँ के बड़े बूढों के मध्य ही बची है। युवा पीढ़ी तो अब हिंदी को भूल सी चुकी है किंतु उनकी क्रियोल में हिंदी के अनेक शब्द ऐसे आज भी मिलेगें जो कभी हिंदी के पुनर्रुद्धार के कारण बन सकते हैं।[14]

भाषा नमूना:

“हम आइली काहे कि हमार माई हमके भेजिस तोहार मनी निकाले अउर ओके दे देई, मरदवा के आखिया में लालच उबलत रहे, सुन रखल है के कई इच्छीधारी नागिन के खोपर में एकगो अनमोल मनी रहेला। अगर ऊ मनी के पासके त आमीर मर्द होइजाई। लइकी के काम करत देखिस

गयल ऊ पता चलिस के ऊ में कुछ जदुआ बा के खाल चमारी के नीचे तराजू जइसे निसान रहे, के उनकर जनम के दाग जे लगल हाथ पर कभी कभर लोटेला।"

सौजन्य : राजीव मोहाबीर

रोमानी हिंदी:

रोमा जनजातीय समुदाय यायावरी प्रकृति का है इसलिए जहाँ–जहाँ वे गए और रहे वहाँ की रोमानी में उन देशों की भाषाओं के भी शब्द जुड़ते चले गए और रोमानी के अनेक भाषा रूप भी होते गए। अपने बल्गारिया प्रवास में मेरा कई रोमा विद्वानों से संपर्क हुआ जिनकी भाषा अध्ययन में रुचि थी और उन्होंने मेरे साथ रोमा–हिंदी–बल्गारियन कोश पर कार्य भी किया। रोमा लोगों को बल्गारिया में बल्गारियन भाषा में 'सिगनी' नाम से अभिहित किया जाता है। वे अलग बस्तियों में रहते हैं, उनके रहन–सहन का तरीका जिन देशों में भी हैं उससे अलग ही है। उनकी मान्यताएँ, रीति–रिवाज अनुष्ठान आदि भी विभिन्न हैं जो मूल रूप में कहीं भारत की संस्कृति के लक्षणों से संपृक्त हैं।

रोमा लोगों की भाषा जिसे रोमानी की संज्ञा दी गई उसमें विद्वानों का मानना है कि 40%-50% शब्द हिंदी के तथा 30%-35% सिंधी और शेष पंजाबी, कश्मीरी, गुजराती और यूरोपीय भाषाओं के शब्द हैं।[15] रोमानी हिंदी पर अभी भी काम नहीं के बराबर हुआ है।

रोमा भाषा और हिंदी के शब्द भंडार की यदि तुलाना की जाए तो दोनों भाषाओं के शब्द भंडार में अद्‌भुत समानता दिखेगी। उदाहरण के लिए कुछ बेसिक शब्दों के रोमा रूप अवलोकनार्थ दिए जा रहे हैं।

रोमानी हिंदी	मानक हिंदी	रोमानी हिंदी	मानक हिंदी
फेन	बहन	काष्ठ	काष्ठ
फ्रला	भाई	मूत्र	मूत्र
जामुत्री	जंवाई	मानुष	मनुष्य
सासुरी	ससुर	मुख	मूर्ख
सासुए	सास	जाग	आग
साली	साला	दु:ख	दु:ख
थान	स्थान	दोआब	दरिया
कालो	काला	बीयाह	ब्याह
बाल	बाल	दाया	माँ
कान	कान	याख	आँख
नाक	नाक	बीबी	बीबी

पार्याः

रूसी भाषाविदों का विचार है कि उज़्बेकिस्तान तथा तज़ाकिस्तान में बोली जाने वाली भाषा पारया भी हिंदी की ही एक भाषिक शैली है। पारया भाषा के लिए अफगानी, जवान-ई-अफगानी, इंकू, लफज-ई-इंकू, सुरहानी, चंगर, चश्क गरक आदि नामों का भी प्रयोग होता है। इस भाषा के बोलनेवाले अपने को अफगान शइखोल तथा पार्या भी कहते हैं।[16]

पार्या भाषा-भाषियों की संख्या आज कितनी है इसके कोई प्रामाणिक आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। पार्या भाषा-भाषियों की संख्या विद्‌वानों ने अनुमानतः 6000 बताई है। मार्गदोविच ने अपने एक प्रकाशन में उनकी संख्या जरफशां में 65 तथा दुशाम्बे में 300 बताई है। पार्या भाषी अपना मूलस्थान अफ़गानिस्तान में लगमान बताते हैं। पार्या की न अपनी कोई लिपि है न ही लिखित साहित्य संपन्न है। लोकगीत तथा लोककथाएँ दोनों ही पार्या में मिलती हैं। रूसी विद्‌वान ओरांस्की ने पार्या लोकसाहित्य पर पर्याप्त कार्य किया है।[17]

भाषा नमूनाः

छो नि छो एक चोपन छो। ओ एक बेटा तरा छो। उसको नॉ त गुनन रको। गुनन दिन ब दिन बोरो होता गो। ओ एक कोरो तरा छो। गुनन शिकार मां गियो। तेलपक गमा रोब को पोस्त लयो। एकिनि पांशं को अमलदार लंगो कि अनमिंड कुन शिन कि देख मरो पांशां नांदांन इ, गुनन दॉनॉ छे। पांशा को कॉर आयो। गुनन मरे कुल। अजा गुनन गियो। पांशा न कियो उस अदर मं अदमखुर छे। गुनन गियो अदर मं। अदमखुर त देखे अयो। गुनन न उकरयुक न लेकि अदमखुर त लायो। पॉशॉ न ति पत गुनत न दिनो। गुनन न तिन दिन उ तिन रत बिया करो। इसि नल मुरद उ मखसदु सो मं रसो।

[था या नहीं था, एक चरवाहा था। उसके एक बेटा था। उसका नाम गुनन रखा था। गुनन दिन-ब-दिन बड़ा होता गया। उसके पास एक घोड़ा था। गुनन शिकार पर गया। टोपी के लिए लोमड़ी का चमड़ा लाया। एक दिन बादशाह के एक अमलदार गुजर रहे थे। लोगों से बोले— देखो, मेरे बादशाह नादान हैं, गुनन होशियार है। बादशाह के घर गए। गुनन, मेरे पास आ जाओ। गुनन गया। बादशाह ने कहा उस पहाड़ी (की गुफा) में आदमखोर है। गुनन पहाड़ी (की गुफा) में गया। आदमखोर गुनन को देखकर आया। गुनन ने एक विशेष प्रकार की फंसाने वाली रस्सी लेकर आदमखोर के सर पर फेंकी और आदमखोर को (उसमें फंसाकर) लाया। बादशाह ने अपनी लड़की गुनन को दुल्हन के रूप में दी। गुनन ने तीन रात तक भोज किया। इस तरह उसने अपनी मुराद व अपने मकसद को पा लिया।]

साभार : ताजुज़्बेकी : भोलानाथ तिवारी

संरक्षण और संवर्धन की समस्या और चुनौती:

प्रवासी हिंदी के संबंध में सबसे बड़ी समस्या और प्रमुख चुनौती यही है कि इन भाषा रूपों का संरक्षण और संवर्धन कैसे हो? विश्व की अनेक भाषाएँ आज विलुप्त होने के कगार पर हैं। कुछ विलुप्त हो चुकी हैं। विलुप्त भाषाओं के साथ उन भाषाओं के बोलनेवालों की संस्कृति और उसमें संचित अभिव्यक्तियाँ भी लुप्त हो जाती हैं। अवधेय है कि मॉरीशस, त्रिनिदाद, गयाना और दक्षिण अफ्रीका में बोली जाने वाली हिंदी जो वहाँ के प्रवासी भारतीयों के मध्य विकसित हुई थी उनके दुख-सुख की, आशा-निराशा की अभिव्यक्तियों की संचित निधि थी वह लगभग लुप्त सी हो गई है और उसका स्थान अंग्रेजी ने ले लिया है। यही स्थिति फीजी और सूरीनाम जैसे देशों की भी हो रही है जहाँ हिंदी को अंग्रेजी और डच जैसी सत्ता की भाषाएँ निरंतर ग्रसती जा रही हैं। इस महत्वपूर्ण रहस्य को समझते हुए फीजी के प्रो. ब्रज विलास लाल, प्रो. रेमंड पिल्लई, प्रो. सुब्रमणी, श्री महेन्द्रचन्द्र शर्मा 'विनोद', महावीर मित्र, काशीराम कुमुद, बाबू राम शर्मा जैसे सृजनात्मक लेखक फीजी में और सूरीनाम में डॉ. जीतनराइन, हरदेव सहतू, आशा राजकुमार, अमर सिंह रमण जैसे व्यक्ति अपनी हिंदी को बचाने के लिए निरंतर प्रयत्नशील हैं। वे इसमें साहित्य सृजन कर इसे प्रतिष्ठित कर रहे हैं और अच्छी साहित्यिक रचनाएँ देकर विदेश में भी हिंदी को समृद्ध कर रहे हैं। यह सही है कि हन शैलियों में अभी भी कम रचनाएँ हो रही हैं पर आशा की जाती है कि हिंदी के इन रूपों के महत्व को जैसे-जैसे हम समझेंगे इनमें अधिक रचनाएँ आएँगी। परिनिष्ठित हिंदी इन भरतवंशियों की सायास सीखी हुई भाषा है इसलिए जो अधिकार अपनी मातृभाषा अर्थात 'फीजी हिंदी', 'सरनामी हिंदी' अथवा 'नेटाली हिंदी' पर इनका है वह भारत की हिंदी पर नहीं हो सकता है और अच्छी प्रौढ़ रचनाएँ प्रवासी भारतीयों की अपनी विकसित हिंदी में ही हो सकेंगी।

किसी एक भाषा का लुप्त हो जाना उस भाषिक समुदाय की संस्कृति, अनुभूति और अभिव्यक्ति, आचार-विचार मान्यताएँ और आस्था-विश्वास का लुप्त हो जाना है। भाषा बचती तभी है जब तक उसका बोलचाल में प्रयोग होता रहे। त्रिनिदाद के पड़ोसी देश सूरीनाम ने अपनी हिंदी जिसे वे सरनामी / सरनामी हिंदुस्तानी और सरनामी हिंदी के नाम से अभिहित करते हैं, उसकी सुरक्षा और प्रतिष्ठा के लिए सूरीनाम के नागरिक प्रतिबद्ध हैं और वह भारतीयों के बीच बोलचाल और अभिव्यक्ति का माध्यम बनी रहे इसके लिए वे उसमें साहित्य सृजन कर रहे हैं और आपस में पारस्परिक विचार विनिमय के माध्यम के रूप में आज उसका प्रयोग भी कर रहे हैं।

अवधेय है कि गिरमिटिया शब्द तिरस्कार मूलक शब्द नहीं है, जैसा विदेश में बैठे हुए बहुत से भारतीय मान बैठे हैं। हिंदी के ये भाषा रूप हिंदी की अमूल्य निधि हैं। इन भाषा रूपों में प्रवासी भारतीयों की संघर्ष कथा संचित है। ये भारत के विभिन्न भाषा-भाषी क्षेत्रों से विदेश पहुँचे हुए भारतीयों द्वारा विकसित पारस्परिक सौहार्द की प्रतीक हैं। ये भाषा रूप हिंदी के विश्वव्यापी स्वरूप का परिचय तो देते ही हैं और जब हम हिंदी को विश्व भाषा के रूप में देखना चाहते हैं तो यही भाषा रूप हैं जो विदेश में हिंदी को ठोस प्रतिष्ठा देंगे। विदेश में बसे हुए भारतीय इन भाषा रूपों की

प्रतिष्ठा, सुरक्षा और संरक्षा के लिए निरंतर प्रयत्नशील हैं। इनको 'महतारी भाषा' कहकर इनका सम्मान करते हैं। आज आवश्यकता है इन भाषा रूपों के अध्ययन और अनुसंधान की, इनमें रची सृजनात्मक अभिव्यक्तियों के संकलन की तथा उनके प्रचार और प्रसार की।

संदर्भः

1. वर्मा, विमलेश कान्ति, प्रवासी भारतीय हिंदी साहित्य, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2016 पृ. 12, फीजी का सृजनात्मक हिंदी साहित्य, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, पृ. 98 सूरीनाम का सृजनात्मक हिंदी साहित्य, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली व मॉरीशस का सृजनात्मक हिंदी साहित्य, राधाकृष्ण प्रकाशन; राजकमल प्रकाशन समूह, नई दिल्ली।
2. सुषुम बेदी, हवन, पराग प्रकाशन, नई दिल्ली 1989, पृ. 129
3. संन्यासी, भवानी दयाल, प्रवासी की आत्मकथा, प्रवासी भारतीयों की राष्ट्रभाषा आर्य युवक सभा, दक्षिण अफ्रीका, होप इंडिया, गुड़गांव, द्वितीय संस्करण, 2013, पृ. 168–169
4. वर्मा, विमलेश कान्ति, हिंदी एक रूप अनेक, वाक् वर्ष–1, अंक–1 वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
5. वर्मा, विमलेश कान्ति व धीरा वर्मा, फीजी में हिंदी–स्वरूप और विकास, पीताम्बरा प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000
6. वर्मा, विमलेश कान्ति, फीजी बात, हिंदी की एक विदेशी शैली, बहुवचन अंक 46, वर्ष जुलाई–सितंबर 2015, पृ. 7–25, महात्मागांधी, अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
7. वर्मा, फीजी का सृजनात्मक हिंदी साहित्य, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2012
8. वर्मा, विमलेश कान्ति, सरनामी हिंदी, साहित्यिक परिधि, चक्रवाक, संयुक्तांक–40–41, अप्रैल–सितंबर, 2017, पृ. 22–39
9. वर्मा, विमलेश कान्ति, सूरीनाम का सृजनात्मक हिंदी साहित्य, राधा कृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली–2000
10. सीताराम, रामभजन–नेटाली हिंदी, बहुवचन अंक–46, वर्ष जुलाई–सितंबर, 2015 पृ. 86–104, महात्मागांधी, अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
11. Rambilass, B-Naitali & South African Bhojpuri, Journal of Indological Society of South Africa, Vol-5, 1996
12. Mahabir, Kumar, A Dictionary of Comman Trinidadian Hindi, Illustrations S.K. Raghbir, Chakra Publishing House, San Jaun, Trinidad & Tobago, 2005, P. 79

13. वर्मा, विमलेश कान्ति, हिंदी–स्वदेश और विदेश में, प्रकाशन विभाग भारत सरकार, नई दिल्ली, 2018

14. गंभीर, सुरेन्द्र, प्रवासी भारतीयों में हिंदी की कहानी, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2017

15. शशि, श्याम सिंह, विश्व के रोमा–जिप्सी तथा यायावर समुदायों का हिंदी संसार, प्रवासी संसार वर्ष–4, अंक–3, जुलाई–सितंबर 200 पृ. 90–92, वैष्णव, यमुना दत्त अशोक जिप्सियों की भाषा और हिंदी, प्रवासी संसार, वर्ष–4, अंक–3 जुलाई–सितंबर, 2007, पृ. 93–95

16. ओरान्स्क्या, तात्याना, पार्या भाषाः ताज़िकिस्तान–उज़्बेकिस्तान में हिंदी की सगी बहिन, बहुवचन अंक–46, जुलाई–सितंबर, 2015, पृ. 65–85

17. तिवारी, भोलानाथ, सोवियत संघ में बोली जाने वाले हिंदी, ताजुज्बेकी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली

❑❑

राजभाषा हिंदी का जनपक्ष

—अम्बरीश त्रिपाठी

कबीरदास कहते हैं– **"संस्कीरत है कूप जल भाखा बहता नीर।"** इस दोहे की जितनी व्याख्याएँ मैंने सुनी या पढ़ी हैं मसलन सभी किसी न किसी रूप में संस्कीरत की जगह संस्कृत और भाषा की जगह हिंदी रखकर इस पद की व्याख्या करते हैं। जो संस्कृत के साथ ज़्यादती तो है ही कबीर के मंतव्य के साथ भी न्याय नहीं है।

असल में कबीर ज्ञान परंपरा या किसी विशिष्ट भाषा के खिलाफ कभी नहीं थे। वे उस प्रवृत्ति के खिलाफ थे जो ज्ञान परंपरा और विशिष्ट भाषा को आधार बनाकर समाज में धर्माडंबर, बाह्याचार, अंधविश्वास और जातिगत भेदभाव की भावना को सृजित करती थी, बल देती थी। वह प्रवृत्ति जो एक वर्ग को दूसरे वर्गों के शोषण का अधिकार देती थी। जिसमें वेद–कतेब की मनमानी व्याख्या कर किसी खास धर्म–जाति–समूह को फायदा पहुँचाने का मंतव्य निहित था।

कूप जल में जल का सोता तो है लेकिन नदी की तुलना में अत्यंत सीमित, ठहरा हुआ पानी। अर्थात एक विशाल समूह से विच्छिन्न, कटा हुआ। काल के प्रवाह में जिसके विस्तारित होने की कोई संभावना नहीं। अर्थात भाषा और उसका साहित्य भले ही उत्कृष्ट, समृद्ध और विशिष्ट रहा हो पर अब उसकी पहुँच अत्यंत सीमित हो गई है। क्योंकि बहुल जनसंख्या से उसके सरोकार खत्म हो जाते हैं। भाषा और उसके साहित्य में जनता की आवाजाही ही उस भाषा और साहित्य की संजीवनी है। उस भाषा को तरोताजा और प्रवहमान रखती है।

कबीर का भाखा से व्यंजना हिंदी भाषा तक संकुचित न रहकर उस प्रत्येक भाषा से है जो जनसमूह के मन मष्तिष्क और जिह्वा पर विराजती है। जो व्यक्तियों के जीवन और उसके सरोकारों से जुड़ी भाषा हो। जिसका उपयोग जनता अपने दिनचर्या, पठन–पाठन और व्यावसायिक क्रियाकलापों में करता है। विशाल देश भारत विविधता की जननी भी है। जिस प्रकार सैकड़ों–हजारों छोटी–बड़ी नदियाँ इसके विस्तृत भूभाग को तृप्त करती हैं उसी प्रकार अनेक बोली भाषाओं का समूह जनता के सामुदायिक और सांस्कृतिक जीवन को संभव बनाती हैं। यही भाषाएँ ही कबीर की 'बहता नीर' है। जो सदानीरा की भाँति जन–जीवन के सुख–दुख में अपनी महत्वपूर्ण सहभागिता निभाती हैं।

इस संदर्भ में ही ऐतिहासिक रूप से वैदिक संस्कृत के लुप्त होने और लौकिक संस्कृत के विस्तृत होने के तथ्य को हम समझ सकते हैं। कैसे वेदों, पुराणों, स्मृतियों, उपनिषदों से समृद्ध वैदिक संस्कृत जन सामान्य से दूर होती गई और उत्कृष्ट श्रुति परंपरा गुरुकुलों तक सिमटती गई। पर ऐतिहासिक भूलों को भूल जाने में हम भारतीयों का कोई सानी नहीं है। देखिए उपनिवेश बनने की कहानी को भी कितनी जल्दी और आसानी से हम भूल गए और फिर एक बार नव उपनिवेशीकरण की चक्की में पिसने को हम प्रस्तुत होते जा रहे हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में राजभाषा हिंदी की वर्तमान स्थिति को देखा जाना चाहिए।

भारत को प्राचीनतम गणतंत्र-जनतंत्र होने का गौरव प्राप्त है लेकिन दो-ढाई हजार सालों तक के इतिहास में जनता या जनगण की भाषा राजभाषा नहीं रही। जब जनता पाली, प्राकृत, अपभ्रंश और बोलियों के समूह के रूप में हिंदी का प्रयोग कर रही थी तो शासन क्रमशः संस्कृत, पाली, फारसी, अंग्रेजी को राजभाषा के रूप में व्यवहृत कर रहे थे। इस बड़ी सांस्कृतिक और भाषिक विरोधाभास की पृष्ठभूमि में 14 सितंबर 1949 में स्वतंत्र भारत के संविधान ने जनभाषा हिंदी को इतिहास में पहली बार राजभाषा का दर्जा दिया। लेकिन हिंदी को जनाकांक्षा के अनुरूप राजभाषा बनाने का जो उद्देश्य था उस पर विचार करते हुए हिंदी के प्रसिद्ध विद्वान डॉक्टर काशीराम शर्मा जी लिखते हैं– "1965 से राजभाषा के रूप में हिंदी प्रतिष्ठित होनी थी। वह हो तो गई पर राजभाषा के अधिनियमों के अनुसार अंग्रेजी का प्रयोग सहभाषा के रूप में चालू रखा गया। अब विधि के अनुसार केंद्रीय सरकार की राजभाषा हिंदी है और सहभाषा अंग्रेजी है, पर वस्तुस्थिति यह है कि अधिकांश काम अब भी अंग्रेजी में ही होता है और हिंदी में अधिकतर वही काम होते हैं जिनके लिए अंग्रेजी के साथ हिंदी का प्रयोग अनिवार्य कर दिया गया है।"[1]

राजभाषा का मतलब है राज-काज की भाषा, अर्थात शासकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग की जाने वाली भाषा। अर्थात सरकार और जनता के बीच होने वाली संवाद की भाषा। भारत जैसे लोकतांत्रिक देश में भी गणतंत्र का मतलब जनता का, जनता द्वारा जनता के लिए ही शासन होता है। यहाँ पर राजभाषा का उद्देश्य भी जनता के कल्याण में ही निहित होना चाहिए। पर ऐसी बात है नहीं। क्योंकि हम शीघ्र ही भूल गए कि अरबी, फारसी और अंग्रेजी आदि भाषाओं को ही राजभाषा बनाकर भारतीय जनता के बहुविधि शोषण का मार्गप्रशस्त किया जाता रहा और आज आजादी के 70 से अधिक सालों बाद भी राजभाषा हिंदी जनभाषा हिंदी से कोसों दूर है।

हिंदी की अनेक बोलियों और उनके समृद्ध साहित्य ने हिंदी को राजभाषा बनने का आत्मविश्वास दिया। विद्यापति, कबीर, सूर, तुलसी, जायसी और मीरा सरीखे रचनाकारों ने देश के कोने-कोने तक हिंदी की मधुर तान पहुँचाई। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने आधुनिक काल में निज भाषा की महत्ता को बल दिया और कहा–

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नत को मूल।
बिनु निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को शूल॥

ये पद आजादी के नारों के रूप में जन-जन के अधरों पर गूँजे। आजादी का सूरज उगने की लालिमा के साथ ही भारत के बहुसंख्यक समुदाय द्वारा समझी बोली जाने वाली जनभाषा हिंदी को राजभाषा और राष्ट्रभाषा का दर्जा देने की माँग प्रखर होती चली गई। अंततः राजभाषा के रूप में हिंदी को संवैधानिक दर्जा दे दिया गया और इस तरह जनभाषा हिंदी को राजभाषा बनाने का संघर्ष सफल हुआ। तो क्या अब हम कह सकते हैं कि राजभाषा हिंदी ही भारत की जनभाषा है? नहीं। दरअसल जनभाषा हिंदी को राजभाषा हिंदी का दर्जा तो जरूर मिला पर ये सरकारी हिंदी अब वही नहीं थी। ये जनता की हिंदी से अलग होने लगी। इसके कारणों को राजभाषा हिंदी बनने की प्रक्रिया के माध्यम से समझा जा सकता है।

राजभाषा के लिए पारिभाषिक शब्दों का निर्माण मुख्य रूप से— सृजन, ग्रहण, संचयन एवं अनुकूलन जैसी चार प्रक्रियाओं द्वारा हुआ। फारसी और अंग्रेजी शासन व्यवस्था के अभी तक व्यवहृत शब्द प्रायः राजभाषा हिंदी में अंगीभूत किए गए। लंबे समय के शासन के परिणामस्वरूप जनता को उन शब्दों के प्रयोग से बहुत परेशानी नहीं हुई। मसला नए भाषाई अनुशासन और उससे जुड़ी शब्दाबलियों के निर्माण और प्रयोग का उठा। इस निर्माण की प्रक्रिया में या तो संस्कृत की परंपरा से बहुत दुर्बोध शब्दों को रखा गया या धातुरूपों में उपसर्ग, प्रत्यय लगाकर तथा शब्द निर्माण की अन्य और प्रक्रियाओं द्वारा क्लिष्ट एवं अप्रचलित शब्दों को अंग्रेजी तर्ज पर गढ़ा गया। अंग्रेजियत से प्रभावित कुछ विद्वानों ने अंग्रेजी रूप या उसके निर्जीव अनुवाद/पर्याय के रूप में अधिकाधिक पारिभाषिक शब्दों का गठन किया। इस प्रक्रिया पर गुरुदेव टैगोर ने कड़ी टिप्पणी की थी "हमने अपनी आँखें खोकर चश्मे लगा लिए हैं।" दरअसल हिंदी राजभाषा तो बनी पर अकबर इलाहाबादी के शब्दों में कहूँ तो—

"उन्हीं के मतलब की कह रहा हूँ,
जबान मेरी है बात उनकी।"[2]

असल में हिंदी को राजभाषा के रूप में गढ़ने वाले अधिकांशतः उच्च शिक्षित अभिजात्य वर्ग के लोग थे। जिनके खुद की उच्च शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी ही रहा। उस समय की बड़ी जरूरत भी थी अंग्रेजी की प्रचलित परंपरा के अनुसार हिंदी को खड़ी करने की। संविधान में इसके लिए 15 वर्ष का समय भी निर्धारित किया गया। 15 वर्षों बाद भी अंग्रेजी तो हटी नहीं और खुद राजभाषा भी अंग्रेजीदां हो गई। विडंबना यह भी हुई कि जो राजभाषा तैयार हुई वो न जनता की भाषा थी, न ही महाविद्यालयों या विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जाने वाली भाषा। उच्च शिक्षा में भी इस बात पर सतत जोर दिया जाता है कि उत्तर अपने शब्दों में दिया जाय।

सात दशकों बाद भी आज संघ लोक सेवा और राज्य लोक सेवा आयोग की परीक्षाओं सहित लगभग सभी महत्वपूर्ण परीक्षाओं में विवाद की स्थिति में प्रश्नपत्र का अंग्रेजी रूप ही मान्य होता है। हम आज तक राजभाषा हिंदी में कोई मौलिक प्रश्न पत्र क्यों नहीं तैयार कर सके। समानता के नाम पर अंग्रेजी के स्टील प्लांट को इस्पाती पौधा अनूदित करना कौन सा न्याय है। वह भी संघ

लोक सेवा जैसी प्रतिष्ठित परीक्षा में कई बार अनुवादक विषय से अपरिचित होता है तो कई बार हड़बड़ी में अनुवाद करने की चुनौती के दुष्परिणामस्वरूप ऐसी अटपटी, मूल से भटकी, दुरूह और बोझिल हिंदी हमारे समक्ष आती है। इसका एक कारण यह भी है कि मूल और अनुवाद की भाषाओं की प्रकृति अलग-अलग होती है। और मूल की भाषा अनुवादक के मन-मस्तिष्क पर इतना हावी रहती है कि वह उसके शब्दों, मुहावरों और विन्यास को अनुवाद की भाषा में उतार बैठता है। अंग्रेजी से हिंदी में रूपांतरित करने का सरकारी प्रयोजन तो पूरा हो चुका रहता है पर इससे हिंदी भाषा का बड़ा अनर्थ हो जाता है। एक तो हिंदी भाषा में कार्य करने की प्रणाली नहीं अपनाई जाती और दूसरी तरफ अनुवाद में रचनात्मक प्रयोग करने की छूट भी नहीं दी जाती। क्या ये हिंदी माध्यम को हतोत्साहित करने का उपक्रम नहीं है? क्या अंग्रेजी की तरह ही राजभाषा हिंदी भी आम जनता को डराने वाली भाषा के रूप में व्यवहृत हो रही है?

एक आम आदमी से अपेक्षा की जाती है कि वो जीएसटी जाने, प्रोटोकॉल फॉलो करे पर वही अधिकारी लोक में बहुप्रचलित शब्दों नरवा, गरवा, घुरवा और बाड़ी को बोलना नहीं सीख पाता या सीखने से कतराता है। हमारे देश के सफल लोकतंत्र में घर परिवार, बाजार, दुकानों पर बोली जाने वाली-समझी जाने वाली भाषा के शब्द राजभाषा में क्यों नहीं शामिल हो सकते। जिस गरीब वंचित तबके के लिए उज्ज्वला गैस योजना लागू की गई क्या वो लोग उज्ज्वला बोल लिख और समझ पाते हैं। अनुपम मिश्र ने राजभाषा हिंदी पर चुटकी लेते हुए एक बार कहा था कि 'सामाजिक वानिकी' पद रचने वाले जरा ये समझायेंगे कि असामाजिक वानिकी भी कोई शैली होती है क्या? वानिकी अपने आप में सामाजिक नहीं है क्या?

सवाल केवल पारिभाषिक शब्द की दुरूहता का ही नहीं है। सवाल वाक्य-विन्यास और पद रचना का भी है। इस बात को एक उदाहरण से समझते हैं— अंग्रेजी का एक वाक्य— " The existing rules regulating the issue of identity card, inter alia, provide that loss of identity card would entail a penalty of rupees five- It has now been decided to raise the amount to rupees ten-" इस बात को हिंदी में कहने के लिए अनुवाद यूँ मिलता है— "पहचान पत्र के जारी करने को विनियमित करने वाली विद्‌यमान नियमावली और बातों के साथ यह उपबंध करती है कि पहचान पत्र के खोए जाने का अपरिहार्य परिणाम पाँच रुपए का अर्थदंड होगा। अब यह निश्चय किया गया है कि यह राशि बढ़ाकर दस रुपए कर दी जाए।"

अंग्रेजी में कही गई बात हिंदी में व्यक्त तो हो रही है पर हिंदी पाठ का संदेश स्पष्टता से संप्रेषित नहीं हो पा रहा। अनुवाद में जरूरी है किसी पाठ का मूल भाव या संदेश सहजता से संप्रेषित हो। तब तो यह और जरूरी है जब मुद्‌दा जनता से सीधे जुड़ा हुआ है। अनुवाद के लिए शब्दकोशों का प्रयोग करना जरूरी होता है। पर प्रत्येक अनुवाद के लिए कोशगत अर्थों या पर्यायों का ही व्यवहार करना समीचीन नहीं होता। जैसे अंग्रेजी के इस वाक्य में यह कतई जरूरी नहीं की 'regulating, inter alia, provide, raise' आदि शब्दों के निर्धारित पर्यायों का ही प्रयोग हो। इसका अनुवाद

अगर हम ऐसे करें कि, "पहचान पत्र जारी करने से संबंधित वर्तमान नियमों के अनुसार पाँच रुपए अर्थदंड देना होता है, पर अब यह निश्चय किया गया है कि इस राशि को बढ़ाकर दस रुपए कर दिया जाए।" तो यह हिंदी के स्वभाव के अनुकूल सहज और सुगम हो जाएगा।

विधि, न्याय, संसदीय या शासकीय पत्र व्यवहार और आर्थिक आंकड़ों से संबंधित प्रतिवेदनों के मूल लेख प्रायः अंग्रेजी भाषा में ही लिखे जाते हैं जिसे एक व्यक्ति आसानी से समझ सकता है जो अंग्रेजी का थोड़ा बहुत ज्ञान रखता हो। पर इनके हिंदी अनुवादों को देखें तो एक पढ़े-लिखे वर्ग द्वारा भी इसे समझना मुश्किल है। क्योंकि इनके अनुवादों में प्रायः अंग्रेजी वाक्य-विन्यास के अनावश्यक अनुकरण की प्रवृत्ति देखने को मिलती है। एक लेखा-परीक्षा रिपोर्ट को देखें– 'The expenditure during this year was eight millions as against seven millions last year.' इसका अनुवाद मिलता है– 'इस वर्ष का व्यय पिछले वर्ष के 700 लाख के मुकाबले 800 लाख रुपए था।' 700 लाख या 800 लाख पद का इस्तेमाल हिंदी भाषा की प्रवृत्ति नहीं है। ये अंग्रेजी का ढंग है। इस अनुवाद को हिंदी में यूँ लिखा जाना चाहिए– "इस वर्ष 8 करोड़ रुपया व्यय हुआ जबकि पिछले वर्ष 7 करोड़ ही हुआ था।"

चूँकि हिंदी में प्रशासनिक गतिविधियों को संपादित करने के लिए साहित्य सृजन की कोई व्यवस्था पहले से मौजूद नहीं थी। अतः अनुवाद ही एक माध्यम बना जिससे संपूर्ण कार्यालयीन साहित्य को हिंदी में अनूदित किया गया। इस काम को व्यवस्थित रूप से संपन्न करने-कराने हेतु केंद्रीय सरकार ने अनुवाद के लिए कार्यालयीन संहिताओं, नियमावलियों, शब्दसंग्रहों और पारिभाषिक शब्दावली कोशों आदि के रूप में प्रचुर मात्रा में सहायक और संदर्भ-सामग्री सुलभ कराई। यह महत्वपूर्ण कार्य देश भर के विद्वानों एवं विशेषज्ञों के सम्मिलित प्रयास से संभव हो सका। यह कार्य सराहनीय और उल्लेखनीय है। पर इस समूचे उपक्रम में भी अंग्रेजी के प्रति अवांछित आसक्ति दिखती है। जिसके कारण हिंदी अनुवादों में हिंदी की सी सहजता और सुगमता नहीं आ पाई है। कार्यालयीन हिंदी प्रपत्रों पर अंग्रेजी का कितना प्रभाव है, इस बात को उदाहरण के माध्यम से डॉ. नगीन चंद्र सहगल जी समझाते हैं– "इसका अनुमान वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग द्वारा 1968 में प्रकाशित और समेकित प्रशासन शब्दावली में संकलित कार्यालयीन अभिव्यक्तियों के हिंदी अनुवादों से हो सकता है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं–

Approved as per remarks in the margin.
हाशिए की अभियुक्ति के अनुसार अनुमोदित।

For favour of doing the needful.
यथावश्यक कार्यवाही की कृपा के लिए।

I am directed to say/
मुझे यह कहने का निर्देश हुआ है।

समेकित प्रशासन शब्दावली के लगभग 10 वर्ष बाद 1978 में भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा प्रकाशित 'कार्यालयीन शब्दावली' भी इस दोष से पूर्णतया मुक्त नहीं है। दो चार उदाहरण देखिए—

Early orders are solicited.
शीघ्र आदेश प्रार्थित है।

Being found medically fit for service in the bank.
बैंक की सेवा में डॉक्टरी दृष्टि से योग्य पाया गया।

Marked absent.
अनुपस्थित लगा दिया गया।

Has no comments to make.
... को कोई टीका नहीं करनी है।

और 'पे सेल्फ' के हिंदी अनुवाद 'स्वयं को देय' में तो यह प्रवृत्ति अपने सबसे अधिक अनर्थकारी रूप में सामने आई है। जिन लोगों को इस दिशा में मार्गदर्शन का श्रेय मिला, उनका ध्यान अगर अंग्रेजी की ओर कुछ कम और हिंदी की स्वाभाविक प्रवृत्ति की ओर कुछ अधिक होता तो वह अनायास ही उपर्युक्त अभिव्यक्तियों को इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते थे—

हाशिए में व्यक्त विचार के साथ अनुमोदित।
कृपापूर्वक आवश्यक कार्रवाई के लिए।
निदेशानुसार निवेदन है कि—
प्रार्थना है कि आदेश शीघ्र दें।
डॉक्टरी दृष्टि से बैंक की सेवा के योग्य पाया गया।
अनुपस्थित मान लिया गया।
... को कोई टिप्पणी नहीं करनी है।"[3]

अतः हिंदी की जीवंतता और सतता को बरकरार रखने के लिए हमें अधिक से अधिक राजभाषा को सुबोध और सुग्राह्य बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

हमें इस बात का सदैव स्मरण रखना चाहिए कि जिस हिंदी को राजभाषा बनाने के लिए बहुत लड़ाइयाँ लड़ी गईं वही राजभाषा हिंदी अब आम जन से बहुत दूर होती जा रही है। सरकारी काम काज की हिंदी और जनता के बीच बोलचाल की हिंदी के मध्य फाँक बढ़ती जा रही है। अगर यही स्थिति बरकरार रहेगी तो वह दिन दूर नहीं कि राजभाषा हिंदी भी संस्कृत की तरह कूपजल तक सिमट के रह जाएगी। राजभाषा में राज शब्द राजा या विशेष वर्ग के लिए नहीं अपितु शासन को

सुचारू रूप से चलाए जाने के लिए प्रयुक्त हुआ है। और शासन भी जनता के कल्याण के लिए है। इसलिए राज को जनता के करीब लाने के लिए, राजभाषा हिंदी को जनभाषा बनाने के लिए आज पुनः एक राष्ट्रव्यापी आंदोलन खड़ा करने की जरूरत है। एक ऐसी राजभाषा जो जड़ या निर्जीव न रहे अपितु ऐसी भाषा जो समय और परिवेश के अनुरूप जनता के सुख-दुःख, आवश्यकताओं को स्वर दे सके। सरकार और जनता के बीच संवाद सेतु के रूप में सदैव गतिशील रहे।

संदर्भः

1. डॉ. नगेंद्र (संपादक), अनुवाद विज्ञान, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय-दिल्ली विश्वविद्यालय

2. www.rekhta.org

3. डॉ. नगेंद्र (संपादक), अनुवाद विज्ञान, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय-दिल्ली विश्वविद्यालय

❑❑

साहित्यिक अनुवाद की समस्याएँ एवं समाधान

—राम किशोर

अनुवाद की उपयोगिता आज ही नहीं अपितु प्राचीनकाल से ही स्वत: सिद्ध है। भारत जैसे बहुभाषी देश के लिए अनुवाद अत्यंत उपयुक्त साधन है। बहुभाषी संस्कृति होने के कारण यहाँ की संस्कृति भिन्न-भिन्न भाषाओं में बिखरी हुई है। आज के व्यस्त जीवन में लोगों के लिए समय, श्रम एवं संपत्ति के अभाव के कारण सभी भाषाओं को सीखना संभव नहीं है। अनुवाद की सुविधा ने मनुष्य की उन्नति में अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान दिया है। साहित्यक रचनाओं में संस्कृति से जुड़ी बातें अभिव्यक्त होती हैं। सृजनात्मक साहित्य में मानव जीवन के सभी भावों अर्थात् सुखात्मक-दु:खात्मक, मानवीय-अमानवीय, कोमल-कठोर, हितकारी-अहितकारी, मंगल-अमंगल आदि का समावेश होता है। अत: साहित्य हमारे जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया है। विभिन्न भाषा-भाषी समाज के सामने यह तथ्य स्पष्ट है कि मानव जीवन में भाषाएँ भिन्न-भिन्न हैं किंतु सभी प्रकार के भाव कम या अधिक मात्रा में सर्वत्र विद्यमान है। संस्कृति चाहे अलग-अलग क्यों ना हो किंतु कम, अधिक मात्रा में उनके भावों में समानता अवश्य पाई जाती है। साहित्यिक एवं सांस्कृतिक आदान-प्रदान में अनुवाद की अत्यंत सराहनीय भूमिका है। प्रस्तुत शोध पत्र में साहित्यिक अनुवाद की समस्याएँ एवं समाधान के विषय में विस्तार से विचार-विमर्श किया गया है।

साहित्य जीवन एवं जगत् से तादात्म्य बनाकर आगे बढ़ता है। साहित्य में सामाजिक जीवन की प्रवृत्तियों का निदर्शन पाया जाता है। इसमें सकारात्मक वृत्तियों के पुष्कल चेतना का समावेश होता है। संस्कृत के मर्मज्ञ काव्यशास्त्रियों ने साहित्य में शब्द और अर्थ की रमणीयता को वरेण्य माना है। अत: साहित्य वह विचार तत्व है, जो जीवन विधायिनी प्रज्ञा को विकसित करता है। साहित्य की भाषा केवल मस्तिष्क या प्रयोजन से नहीं अपितु हृदय से जुड़ी होती है तभी तो वाल्मीकि एक सामान्य सी घटना को शब्दों का स्पर्श देते हैं और संपूर्ण काव्य प्रवाहमान हो उठता है। साहित्यिक रचनाओं के अनुवाद ने राष्ट्र की सीमाओं को लाँघकर विश्व साहित्य की संकल्पना को मूर्त रूप प्रदान किया है।

भारत में प्राचीनकाल से भाषा के अंगों एवं प्रवृत्तियों का वैज्ञानिक अध्ययन किया जा रहा है। उन्नीसवीं सदी में पाश्चात्य जगत् में भी भाषाविज्ञान का अध्ययन प्रारंभ हुआ एवं कालांतर में

इसका विकास प्रयोगशाला की सहायता से होने लगा। अनुवाद को अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान का एक अंग माना जाता है। आज अनुवाद मनुष्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक जरूरत के साथ कार्यालयी कामकाज का अत्यावश्यक शर्त बन गया है। अनुवाद के सहारे विश्व साहित्य का निर्माण एवं विकास हुआ है। अनुवाद के द्वारा एक देश अन्य देशों के विचारों, कार्यों, सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक हलचलों, अनुभवों, प्रयासों और अनुबंधों को परस्पर लाकर नए ज्ञानशास्त्रों के कपाट खोलता है। अनूदित ग्रंथों ने विश्व संस्कृति का व्यापक प्रचार-प्रसार किया है। अनूदित ग्रंथों के कारण विश्व में रहने वाले सभी जाति, धर्म, संप्रदायों के मनुष्यों के बीच की दूरियाँ मिट रही हैं। अनुवाद सभी देशों की संस्कृतियों को परस्पर जोड़ रहा है।

वर्तमान समय अनुवाद का युग है। इसका मुख्य कारण है कि राजनैतिक एवं आर्थिक परिवर्तन के परिणामस्वरूप विभिन्न भाषा-भाषी समुदायों का संपर्क काफी तीव्र गति से हो रहा है। भूमंडलीकरण अथवा वैश्वीकरण भी अनुवाद को तेज गति से बढ़ा रहे हैं। परिवहन की सुविधाओं के कारण मानव एवं वस्तुओं का आयात-निर्यात बढ़ा है। सभी संस्कृतियों का आपसी अंतर समाप्त हो रहा है तथा एक दूसरों के रीति-रिवाज, रहन-सहन में संपर्क के साथ-साथ साहित्यिक जिज्ञासा भी बढ़ रही है। इस साहित्यिक आर्कषण के कारण ही अनुवाद को असाधारण महत्व प्राप्त हुआ है। भूमंडलीकरण के कारण विभिन्न देशों के बीच राजनैतिक, आर्थिक, व्यापारिक, तकनीकि, वैज्ञानिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों के बढ़ते आदान-प्रदान के कारण अनुवाद एक महत्वपूर्ण कार्य के रूप में विकसित हो रहा है। शैक्षिक एवं ज्ञानात्मक संदर्भ में अनुवाद औपचारिक स्थिति में होता है। एक भाषा से दूसरी भाषा में अनूदित रूप साहित्य को पढ़कर तुलनात्मक शोध कार्य भी किया जा सकता है। इस समय हमारे कार्यों को पूरा करने में इसकी व्यापक एवं महत्वपूर्ण भूमिका है।

अनुवाद के क्षेत्रः

1. सरकारी कार्यालय - अंग्रेजी - राजभाषा।
2. शिक्षा - अंग्रेजी - प्रादेशिक भाषा।
3. साहित्य - संस्कृत - प्रादेशिक भाषा, प्रादेशिक भाषा - प्रादेशिक भाषा।
4. जनसंचार - समाचार पत्र, रेडियो, दूरदर्शन विभिन्न भाषाओं में समाचार।
5. विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी - अंग्रेजी - प्रादेशिक भाषा।
6. अंतरराष्ट्रीय संबंध - प्रतिनिधि संवाद (मौखिक अनुवाद), संधि दस्तावेजों का अनुवाद (प्रमुख वैश्विक भाषा - अंग्रेजी, हिंदी)।
7. न्यायालय - अंग्रेजी - प्रादेशिक भाषा।
8. संस्कृति - अनुवाद सांस्कृतिक सेतु - विश्वबंधुत्व एवं राष्ट्रीय एकता।

साहित्यिक अनुवादः

कहा जाता है कि साहित्य समाज का दर्पण होता है। बस यही वजह है जो साहित्यिक अनुवाद को बेहद उत्तरदायी और कठिन कार्य बना देती है। किसी भाषा के साहित्य का विभिन्न भाषाओं में अनुवाद साहित्यिक अनुवाद है। साहित्यिक विधाओं में पद्य तथा गद्य प्रमुख रूप से आते हैं जैसे— नाटक, कहानी, कविता, उपन्यास, एकांकी, प्रहसन, निबंध, आलोचना, संस्मरण आदि शामिल हैं। साहित्यिक कृतियों का अनुवाद सामान्य अनुवाद से उच्चतर माना जाता है। एतदर्थ अनुवादक को कम से कम दो भाषाओं का ज्ञान आवश्यक है। यह कार्य काफी कठिन है क्योंकि दो भिन्न भाषाओं की प्रकृति, संरचना, संस्कृति, समाज, रीति-रिवाज, रहन-सहन, वेशभूषा आदि अलग-अलग होती है। कभी-कभी एक भाषा से दूसरी भाषा में यथावत् रूपांतरित करते समय समतुल्य अभिव्यक्ति के अन्वेषण में काफी कठिनाई का अनुभव होता है।

अनुवाद का कार्य काफी चुनौतीपूर्ण है। चूँकि इसके लिए न केवल स्रोत भाषा का ज्ञान बल्कि लक्ष्य भाषा के ज्ञान के साथ-साथ ही अनुद्य सामग्री के विषय एवं संदर्भ का भी गहरा ज्ञान आवश्यक होता है। साहित्यिक अनुवाद मूल लेखन से भी काफी कठिन कार्य है। हर भाषा एक विशिष्ट परिवेश में पनपती है, अतः उसकी ध्वन्यात्मक, शाब्दिक, वाक्यात्मक, मुहावरे तथा लोकोक्ति विषयक अपनी विशेषताएँ होती है जो अन्य भाषाओं से काफी भिन्न होती हैं। जिससे स्रोत भाषा की पूर्णतः सामाजिक अभिव्यक्ति लक्ष्य भाषा में कर पाना सदा संभव नहीं होता है। अर्थ-विस्तार, अर्थ-संकुचन तथा अर्थ-वैभिन्न्य से भी अनुवाद काफी कठिन हो जाता है। साहित्यिक अनुवाद करते समय कभी-कभी समतुल्य अभिव्यक्ति नहीं मिलती उनमें समानता लाने हेतु ऐसे प्रयोग किये जाते हैं जो लक्ष्य भाषा की प्रकृति में सहज नहीं होते। अतः मूल पाठ के संदर्भ, काल एवं परिस्थितियों से अवगत होना भी आवश्यक है।

अनुवाद करते समय मूल लेखक की मानसिक संवेदनाओं और अनुभूतियों तक पैठ पाना काफी कठिन होता है क्योंकि भाषा जीवंत एवं निरंतर परिवर्तनशील है। भाषा की इस प्रकृति के कारण अनुवाद कार्य भी काफी जटिल हो जाता है। अतः साहित्यिक अनुवाद दो भाषाओं के बीच सांस्कृतिक सेतु के समान है, जिससे दो भिन्न भाषाओं के बीच स्थित समय एवं दूरी के अंतराल को समाप्त कर भावनात्मक एकता स्थापित की जा सकती है।

साहित्यिक एवं साहित्येतर अनुवादः

आज विभिन्न क्षेत्रों में अनुवाद के संबंध एवं योगदान काफी तेज गति से बढ़ रहे हैं। संस्कृति, धर्म एवं दर्शन, शिक्षा, व्यवसाय, पत्रकारिता, विज्ञापन, राजनीति, पर्यटन एवं कार्यालय आदि हर क्षेत्र में अनुवाद की अहम् भूमिका रहती है। सामाजिक एवं सार्वजनिक स्थलों पर भी द्विभाषी सूचनाएँ होती हैं। एक तो हिंदी या अंग्रेजी में होगी तथा दूसरा उनका अनुवाद उस प्रदेश की प्रादेशिक भाषा में। भाषा ही एकमात्र माध्यम है जिसके द्वारा हम अपने विचारों तथा सूचनाओं को

अन्यों तक सुचारू रूप से पहुँचा सकते है। इस दृष्टि से लोगों को उनकी भाषा में ही विषय को पहुँचाने का कार्य अनुवाद द्वारा किया जाता है।

साहित्यिक अनुवाद और साहित्येत्तर अनुवाद में "भाव" एवं "शब्द" को लेकर अंतर है। साहित्यिक अनुवाद में भावपरक तत्वों की प्रधानता होती है वहीं साहित्येत्तर अनुवाद में शब्द की। साहित्यिक अनुवाद वैयक्तिक, कलापरक, अलंकारिक शैली एवं अनुभूतिपरक, रसात्मकता तथा समतुल्य प्रभावयुक्त होता है। यह परिनिष्ठित/आंचलिक/ग्रामीण/अभिव्यंजनापरक भाषा में होता है। इसमें अर्थ के नष्ट होने की संभावना ज्यादा किंतु भावानुवाद महत्वपूर्ण होता है। पारिभाषिक शब्द अनिवार्य नहीं होते हैं एवं पुनः सृजनात्मकता आवश्यक है। साहित्य को परिस्थिति के अनुसार घटाया या बढ़ाया जा सकता है। साहित्यिक अनुवाद में यह आवश्यक नहीं है कि मूल शब्द अपनी यथास्थिति में रहे। भाव-विचार-जनित तत्वों का समावेश होने की वजह से उसके मूल शब्दों की हानि की संभावना अधिक रहती है। साथ ही साहित्येत्तर अनुवाद निर्वैयक्तिक, अनालंकारिक, वस्तुनिष्ठ शैली तथा परिनिष्ठित व सूचनापरक भाषायुक्त होता है। इसमें पठनीयता, प्रमाणिकता, अर्थ-स्पष्टता एवं बोधगम्यता पर्याप्त होती है। प्रायः शाब्दिक अनुवाद व पारिभाषिक शब्द आवश्यक होते हैं। पुनः सृजनात्मकता की न्यूनता एवं अनुवाद को घटाया-बढ़ाया नहीं जाता है अर्थात् भावानुवाद अल्प मात्रा में ही स्वीकृत है।

अनुवाद की मुख्य समस्याएँ:

सभी साहित्यिक विधाएँ अपनी विभिन्न विशेषताओं के कारण एक-दूसरे से भिन्न होती हैं। कविता से जिस तात्कालिकता के साथ पाठक समाज प्रभावित होता है, वैसा उपन्यास से नहीं। यही अंतर हमें नाटक, निबंध, आलोचना आदि विधाओं में भी प्रतीत होता है। अतः साहित्यिक अनुवादकों को इन विधाओं की विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए अनुवाद के कार्य में संलग्न होना चाहिए।

काव्यानुवाद की समस्याएँ:

पद्य/काव्य के अनुवादकों को मुख्य समस्या उसकी पुनर्रचना को लेकर होती है। अनुदित कृति मूल रचना के भौगोलिक, सांस्कृतिक, देश, काल, परिस्थिति तथा वातावरण को प्रकट करने में निरर्थक साबित होती है तो वह भावना के स्तर पर अपना प्रभाव कदापि नहीं छोड़ सकती है। अतः काव्यानुवादक को मूल कृति की विषय-वस्तु, संवेदना तथा भाषिक-संरचना का पूरा ज्ञान होना चाहिए। कविता का शाब्दिक अनुवाद नहीं होता है। उसका भावानुवाद ही हो सकता है। काव्य की भाषा प्रायः अलंकार प्रधान होती है और हर भाषा में समान अलंकार प्रायः नहीं मिलते हैं। अतः मूल भाषा के अलंकारों को लक्ष्य भाषा में रूपांतरित करना अत्यंत दुष्कर कार्य होता है। चूँकि अनुवाद करते समय शब्द परिवर्तन के अनिवार्य हो जाने के कारण मूल के अलंकारों का यथावत् अंतरण असंभव हो जाता है। कुछ विद्वान अनुवादकों ने इस क्षति को प्रायः स्वतंत्र एवं समरूप अलंकार-विधान द्वारा पूर्ण किया है और काफी हद तक अनुवाद की शब्दालंकार-योजना मूल के काफी सामीप्य को प्राप्त कर लेती है।

काव्यानुवाद में छंदों की समस्या भी काफी चुनौतीपूर्ण है। कविता और छंद का साहचर्य अत्यंत प्राचीन, उपयोगी तथा महत्वपूर्ण होने पर भी निर्विवाद नहीं है। इस संबंध में डॉ. नगेन्द्र का मत महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। "संस्कृत काव्यशास्त्र का निभ्रांत मत है कि छंद कविता का वैकल्पिक उपकरण है। हिंदी के मध्ययुगीन आचार्यों के लिए छंद के अभाव में कविता की कल्पना संभव नहीं थी। यूरोप में भी इस प्रश्न को लेकर दो दल बन गए थे– अरस्तु और कॉलरिज जैसे आलोचक छंद को वैकल्पिक मानते थे, किंतु ड्राइडन आदि के मत में छंद का संगीत कविता का अनिवार्य माध्यम था।" छंद कोई कृत्रिम विधान न होकर एक व्यवस्थित संयोजना है। संस्कृत, ग्रीक और लैटिन में छंद योजना का आधार मात्रा अथवा वर्णगत है, किंतु अंग्रेजी में वर्णगत गुरुता–लघुता को आधार न मानकर स्वाराघात को आधार माना जाता है। अत: स्रोत भाषा के छंद को लक्ष्य भाषा में उपलब्ध सर्वाधिक उपयुक्त छंद में रूपांतरित कर काव्यानुवाद को समृद्‌ध किया जा सकता है।

काव्यानुवादक मूलत: कोई कवि होता है, अत: वह अपने अनुवाद उसके व्यक्तित्व से निश्चित रूप से प्रभावित होता है। वह चाह कर भी इस प्रभाव को रोक नहीं पाता है। विशिष्ट कविता का अनुवाद विशिष्ट व्यक्तिनिष्ठ तथा उसकी मनोदशा से युक्त होता है। हर व्यक्ति के लिए हर कविता का अनुवाद संभव नहीं है। सभी भाषाओं के शब्दों का एक अर्थ बिंब होता है जो उसके सांस्कृतिक, भौगोलिक तथा सामाजिक पृष्ठभूमि से संबंद्‌ध हो सकता है। लक्ष्य भाषा में उसी प्रकार का प्रतिशत मिलना प्राय: संभव नहीं होता है जो स्रोत भाषा में प्रस्तुत बिंब को उसी रूप में प्रस्तुत कर सके।

मुहावरों का अनुवाद:

ऐसे वाक्य जो सामान्य के साथ–साथ एक विलक्षण अर्थ का बोध कराते हैं, मुहावरा है। इनका प्रयोग वाक्यात्मक होता है तथा इनका मूल रूप कभी भी परिवर्तित नहीं होता है। यह भाषा की समृद्‌धि और सभ्यता के विकास का मापक है। इनकी न्यूनाधिक विद्‌यमानता तद्‌भाषा–भाषी लोगों के मन, सामाजिक संबंध, भाषा–निर्माण शक्ति, सांस्कृतिक मान्यताओं का बोध कराती है। किसी भी सृजनात्मक साहित्य का अनुवाद करते समय मुहावरों का अनुवाद मुहावरों से ही करना चाहिए ताकि मूलभाषा की विलक्षणता सुरक्षित रहे। मुहावरों का अनुवाद सरल नहीं होता। इससे प्रमाण एवं विलक्षणता का सृजन होता है। इसके लिए अनुवादक का दोनों भाषाओं पर समान अधिकार होना चाहिए।

लोकोक्तियों/कहावतों का अनुवाद:

लोकोक्तियों में वैयक्तिकता की अपेक्षा सामाजिकता की अधिकता होती है। यह लंबे सामाजिक अनुभवों का सार होता है। भाषा में किसी विचार को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करने हेतु इनका प्रयोग किया जाता है। यह ज्ञान समाज में पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तांतरित होता है। अत: इस अमूल्य ज्ञान को अन्य भाषी लोगों तक पहुँचाने के लिए इनका अनुवाद आवश्यक है। अत: काव्यानुवाद भी एक सर्जनात्मक अभिव्यक्ति है, जिसमें मूल रचना के भाव और अभिव्यक्ति के सौंदर्य को लक्ष्य भाषा में यथासंभव सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया जाता है।

कथा-अनुवाद की समस्याएँ:

कथा साहित्य का अनुवाद काव्यानुवाद से काफी भिन्न है। यह कविता की अपेक्षा अधिक वर्णनात्मक होता है। इसमें वर्णनात्मकता के साथ-साथ उसमें निहित वैचारिक तत्वों पर अधिक ध्यान दिया जाता है। अनुवादक के लिए कहानी अथवा उपन्यास में पात्र के अंतरद्वंद्व को समझना काफी चुनौतीपूर्ण कार्य है, क्योंकि कथा-साहित्य विभिन्न सोपानों में रचे जाते हैं। कभी-कभी स्रोत भाषा को लक्ष्य भाषा के उपमानों में समानता होते हुए भी अर्थ की भिन्नता प्रतीत होती है। जैसे– वह गाय सा दिखाई देता है। यहाँ गाय भारतीय संस्कृति में "सज्जनता" का प्रतीक है जबकि अंग्रेजी भाषा में "मूर्खता" का।

कथा अनुवादक के लिए शिल्प, संवाद और परिवेश की संस्कृति को स्रोत भाषा से लक्ष्य भाषा में परिवर्तित करना बहुत चुनौतीपूर्ण होता है। अनुवादक प्राय: मूल रचना में स्थितियों के लिए लगभग उनसे मिलती-जुलती स्थितियों का वर्णन कर देते हैं तथा अनुवाद करते समय मूल कृति में आए नामों और रीति-रिवाजों के वर्णन में भी परिवर्तन कर देते हैं। अनुवाद संबंधी ये पद्धतियाँ अनुवाद की प्रमुख समस्या के समाधान की जगह समस्या से पलायन ही करती हैं। इतिहास, राजनीति, यथार्थ, पारिवारिक झंझावात तथा बाजारू-संस्कृति का प्रभाव कथा के इर्द-गिर्द अथवा कथा के नायक में दिखाई देता है। अत: अनुवादक को इन खूबियों को ध्यान में रखना होगा, तभी अच्छा अनुवाद किया जा सकता है।

निबंध अनुवाद की समस्याएँ:

निबंध गद्य साहित्य की सशक्त विधा है। एतदर्थ किसी गहन विषय पर विस्तारपूर्वक विचार प्रस्तुत किया जाता है। विचार संतुलित, चयनित विषय के प्रति न्याय तथा प्रभावशाली होने चाहिए जो कि पाठक को सोचने के लिए विवश करते हैं। निबंध लिखने के लिए सुगठित, सुव्यवस्थित तथा परिमार्जित भाषा की आवश्यकता होती है। अनुवादक को इस दृष्टि का विशेष ध्यान रखना चाहिए। आचार्य रामचंद्र शुक्ल का प्रसिद्ध निबंध है– "कविता क्या है", इसमें वे रसदशा पर विस्तृत चर्चा करते हुए लिखते हैं– "जिस प्रकार हृदय की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है, उसी प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्तावस्था के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।" यदि इस परिभाषा का किसी यूरोपीय भाषा में अनुवाद करना हो तो अनुवादक के लिए "रसदशा" एवं "मुक्तावस्था" को अनुदित करना सबसे दुष्कर कार्य होगा।

नाट्यानुवाद की समस्याएँ:

मंचनीयता से जुड़ी यह विधा भी कभी-कभी काव्यानुवाद की जितनी ही जटिल हो जाती है, क्योंकि नाट्य विधा का मंचन पक्ष इसे बहुआयामी रूप प्रदान करता है। नाटक में पात्र परिवेश के अनुसार ही भाषा का प्रयोग करता है। नाटक के उद्देश्य को पूरा करने के लिए लेखन के अलावा मंच

की सजावट, वेशभूषा और शारीरिक-कौशल आदि बाह्य तत्वों पर भी विशेष ध्यान दिया जाता है। नाटक में संवाद के माध्यम से अभिनेता भावों को प्रकट करता है अर्थात इसमें शब्दों का चयन यह सोचकर किया जाता है कि अभिनेता संवाद करते समय किस शब्द को कैसे बोलेगा और उच्चारण की ध्वनि के भाव क्या होंगे। अनुवादक के समक्ष इस संवादात्मक-प्रकृति को बनाए रखते हुए अनुवाद करना दुरूह है। इसके अलावा नाटक का नायक वर्ग-विशेष एवं अपनी संस्कृति तथा वातावरण का प्रतिनिधित्व करता है। उसकी मूल रचना से लक्ष्य भाषा में उसी रूप में अनुवाद करना काफी चुनौतीपूर्ण है, क्योंकि स्रोत भाषा एवं लक्ष्य भाषा में सांस्कृतिक भिन्नता होती है।

आलोचनात्मक अनुवाद की समस्याएँ:

आलोचना किसी ग्रंथ के गुण-दोषों का सम्यक विवेचन होता है। इसमें आलोचक के निजी विचार या नीति-नियम की प्रधानता होती है। इसमें अनुवादक को सर्वप्रथम कृति को समग्रता से समझने की आवश्यकता होती है। मूल कृति के रचना को यदि अनुवादक समझ जाता है तो उसे लक्ष्य भाषा में अनुवाद करना आसान हो जाता है। अनुवाद में मुख्य रूप से सादृश्य अनुवाद पर बल दिया जाता है। अतः साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा आलोचनात्मक अनुवाद करना सरल है, किंतु इसमें मूल कृति के विचार को समझना होगा। तभी वह अच्छा अनुवाद प्रस्तुत कर सकता है।

साहित्यिक अनुवाद केवल शब्दानुवाद मात्र नहीं है अपितु यह भाषाई एवं सांस्कृतिक रूपांतरण भी है। स्रोत भाषा की कृति लक्ष्य भाषा में प्रवेश करती है, अतः मूल रचना अपने भौगोलिक और सांस्कृतिक विशेषता के साथ लक्ष्य भाषा में घुल मिल जाती है। स्रोत भाषा की कृति के विचार, संवेदना, मानवीय-मूल्य आदि लक्ष्य भाषा-भाषी समुदायों के लिए जीवन एवं समाज में परिवर्तन के लिए एक सशक्त माध्यम होते हैं। रामायण, महाभारत और गीता ने अपने त्याग, नीति, कर्म आदि सिद्धांतों से पाश्चात्य देशों को काफी प्रभावित किया है। अतः साहित्यिक अनुवाद दो भाषाओं के बीच सांस्कृतिक सेतु के समान है, जिससे दो भिन्न भाषाओं के बीच स्थित समय एवं दूरी के अंतराल को समाप्त कर भावनात्मक एकता स्थापित की जा सकती है।

साहित्यिक अनुवाद करने में समस्याएँ तो बहुत आती है लेकिन अनुवाद के सिद्धांतों को भली भाँति समझकर एवं उस भाषा-विशेष के विद्वानों से संपर्क करके उन समस्याओं का समाधान करके रोचक और सार्थक अनुवाद किया जा सकता है।

संदर्भः

1. नगेन्द्र (सं.), अनुवाद विज्ञान : अनुप्रयोग और सिद्धांत, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1993
2. शुक्ल, आ. रामचंद्र, चिंतामणि, भाग-1, इंडियन प्रेस लिमिटेड, 2001

3. माचवे, प्रभाकर, कथा साहित्य का अनुवाद, अनुवाद (पत्रिका) जुलाई-सितंबर, भारतीय अनुवाद परिषद, 1997
4. डॉ. शांति विश्वनाथन, साहित्यिक अनुवाद की समस्याएँ, जवाहर पुस्तकालय, 2013
5. तिवारी, भोलानाथ एवं चतुर्वेदी, महेन्द्र (सं.), काव्यानुवाद की समस्याएँ, शब्दकार प्रकाशन, 1980
6. नौटियाल, डॉ. जयंती प्रसाद, अनुवाद सिद्धांत एवं व्यवहार, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2002
7. तिवारी, भोलानाथ एवं गाबा ओम प्रकाश, अनुवाद की व्यवहारिक समस्याएँ, शब्दकार प्रकाशन, 1978
8. भाटिया, कैलाशचंद्र, अनुवाद प्रक्रिया और स्वरूप, तक्षशिला प्रकाशन, 2014
9. सोलंकी, डॉ. गिरीश, अनुवाद स्वरूप एवं समस्याएँ, पेराडाइज पब्लिशर्स, 2012
10. जैन, निर्मला, अनुवाद मीमांसा, राजकमल प्रकाशन, 2018

❑❑

व्यापक ब्रह्म सबनि मैं एकै

(कबीर का दार्शनिक चिंतन)

—बिपिन कुमार

तत्व का बौद्धिक विश्लेषण ही दर्शन है। चिंतन मनुष्य के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता है। अपने इसी विशिष्ट गुण के कारण वह जगत के अन्य प्राणियों से भिन्न है। इसी गुण के कारण वह विवेकशील है। विवेक के बल पर ही वह दृश्य और अदृश्य जगत के सामने सवाल खड़े करता है और उनके जवाब ढूंढ़ता है। जगत क्या है? इसका प्रयोजन क्या है? ईश्वर क्या है? वह है या नहीं? यदि है तो उसके अस्तित्व का क्या प्रमाण है? आत्मा क्या है? जीव क्या है? जीवन क्यों मिला है? काल क्या है? मुक्ति क्या है? ज्ञान क्या है? ये ऐसे विवेकजन्य प्रश्न है जिनका जवाब मनुष्य सदियों से ढूंढ रहा है। कबीर भी ऐसे चिंतक हैं जिनका समूचा काव्य इन प्रश्नों के जवाब से भरा पड़ा है। उन्होंने समस्त दार्शनिक बिन्दुओं पर समाज संगत अपना विचार व्यक्त किया है। समाज संगत का आशय यह है कि उन्होंने दार्शनिक तत्वों का केवल शुद्ध बौद्धिक विश्लेषण नहीं किया है बल्कि भावनात्मक विश्लेषण किया है। चूंकि भारतीय समाज के विकास पर ईश्वर का अतार्किक हस्तक्षेप गहरे स्तर पर विद्यमान था इसलिए कबीर ने समाज संगत तार्किक दार्शनिक चिंतन प्रस्तुत किया है।

ईश्वरः— कबीर ईश्वर को अनेक नामों से संबोधित करते हैं जो उन्हें भारतीय धार्मिक और दार्शनिक संस्कारों से मिले थे। उन्होंने ईश्वर को ब्रहम, राम, हरि, गोविन्द, निरंजन, केशव, नारायण, जगजीवन, माधव, मुकुन्द, महादेव, गोपाल, सालिगराम, रघुनाथ, सहज, शून्य, विश्वंभर, नरहरि, बीहुला, मुरारी, करीम, रहीम, अल्लाह आदि[1] नामों से अभिहित किया है। उन्होंने ईश्वर को निर्गुण और निराकार माना। वह अव्यक्त है। वह कभी भी अवतार नहीं ग्रहण करता। वह सृष्टि के समस्त पदार्थों और प्राणियों में व्याप्त है। वह सभी में एक ही है। वह किसी तरह का भेदभाव नहीं रखता है। उसके यहाँ न कोई पंडित है और न कोई योगी है, न कोई राजा है न कोई रंक है, न कोई वैद्य है न कोई रोगी है। सभी के अन्दर ईश्वर का अंश है। जब विविध शरीर की संरचना होती है तब ईश्वर उनमें अंश रूप में विद्यमान होकर संचालित करते हैं। संसारी जीव उसके लीला यश का गान करते हैं फिर भी उसके रूप का वर्णन करने में सक्षम नहीं हैं—

व्यापक ब्रहम सबनि मैं एकै, को पण्डित को जोगी।
राणा रंक कवन सूं कहिये, कवन वैद को रोगी॥
इनमें आप-आप सबहिन मैं, आप आपसूं खेलै।
नाना भाँति घड़े सब भांड़े, रूप धरे धरि मेलै॥
सोचि विचारि सबै जग देख्या, निरगुन कोई न बटावै।
कहै कबीर गुनी अरू पंडित, मिलि लीला जस गावैं॥[2]

ईश्वर का वर्णन ठीक उसी रूप में संभव नहीं है जिस रूप में उसका अनुभव साधक करता है। उसकी सुखद अनुभूतियों के वर्णन के लिए लौकिक साधन पर्याप्त नहीं हैं। वह ज्योति का पुंज है, अनंत की मूर्ति है, अनंत रंग हैं, छल-बल से दूर है, अवर्ण है, एक है, अकल है और अविनाशी है। उसका न तोल है, न मोल है, न कुछ माप है, न उसकी गिनती का ज्ञान हो सकता है, न वह भारी है, न हल्का है, न उसकी परख कोई देख सकता है—

लोधा है कहूं लाधा है, ताकी पारिख को लहै।
अबरन एक सकल अविनासी, घटि-घटि आप रहै॥
तोल न मोल माप कछु नाहीं, गिणंती ग्यान न होई।
नां सो भारी न सो हल्का, ताकी पारिष लषै न कोई॥[3]

ईश्वर की दिव्य ज्योति का अनुमान करना संभव नहीं है। वह अनुमान और उपमा से परे है। उसकी तुलना लौकिक जगत के प्रकाश से संभव नहीं है। वह मन और बुद्धि द्वारा अगम्य है। वह इंद्रियों की पहुँच से दूर है। वह पाप-पुण्य और धर्म-अधर्म से परे है—

पारब्रहम के तेज का, कैसा है उनमान।
कहिबे कूं सोभा नहीं, देख्या ही परवान॥
अगम अगोचर गमि नहीं, तहाँ जगमगै जोति।
जहाँ कबीरा बंदिगी, तहाँ पाप पुन्नि नहीं छोति॥[4]

ईश्वर आवरण रहित है। वह संपूर्ण ब्रह्मांड में व्याप्त है। वह निरंजन है। वह लोक वाणी और वेद से परे है। जो व्यक्ति जगत से निर्लिप्त होकर उसकी साधना करता है ऐसे किसी बिरले व्यक्ति को ही उसका दर्शन संभव है—

राम निंरजन न्यारा रे।
अंजन सकल पसारा रे।
अंजन ब्रह्म संकर द्वंद, अंजन गोपी संग गोव्यंद॥
अंजन वाणी वेद, अंजन कीया नाना भेद॥
कहैं कबीर कोई बिरला जागै, अंजन छाड़ि निरंजन लागै॥[5]

इस तरह कबीर ईश्वर को समस्त विकारों से मुक्त मानते हैं। वह अनन्त प्रकाश स्वरूप है। अनंत प्रकाश ही अनंत सुख है। यही अनंत सुख ही प्रत्येक पिंडधारी का लक्ष्य है। यह अनंत सुख प्राप्त कर लेने के बाद शरीरी आत्मा जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाती है और अपने ब्रह्म रूप को धारण कर लेती है।

जीव (आत्मा):— ईश्वर, आत्मा और जीव में कोई तात्विक भेद नहीं है। आत्मा मूलरूप में ईश्वर का अंश है। आत्मा जब शरीर धारण करती है तब वह जीव कहलाती है। "जीव संसार के कर्मों में भाग लेता है। इसलिए उसे कर्ता कहते हैं। सुख-दु:ख की अनुभूति कर्ता को होती है। वह कर्म नियम के अधीन है। अपने कर्मों का फल प्रत्येक जीव को भोगना पड़ता है। शुभ और अशुभ कर्मों के कारण वह पाप-पुण्य का भागी होता है।"[6] कबीर कहते हैं कि यही जीव जगत में भ्रमण करते हुए अपने मूल की तलाश करता फिरता है—

कोण देस कहाँ आइया, कहु क्यूं, जांण्यां जाइ।
उहु मारग पावै नहीं, भूलि पड़े इस मांहिं॥[7]

संसार के सभी जीव संयोगवश ही एक दूसरे के संपर्क में आते हैं जिस तरह से नदी में चलने वाली नावें विभिन्न स्थलों से आकर संयोगवश एक जगह मिल जाती हैं उसी तरह इस संसार में व्यक्ति भी मिल जाते हैं। जीव का लक्ष्य जीव से मिलना नहीं बल्कि अपने मूल से मिलना है।

माइ बिरांणी बाप बिर, हम भी मंझि बिरांह।
दरिया केरी नांव ज्यूं, संयोगे मिलियांह॥[8]

जीव सांसारिक स्वार्थों में फंसा हुआ है, जबकि उसका लक्ष्य अपने मूल स्थान ईश्वर की प्राप्ति है। वह विषय वासना को छोड़कर ही अपने मूल को प्राप्त कर सकता है—

आप सवारथ मेंदनी, भगत सवारथ दास।
कबीरा रांम सवारथी, जिनि छाड़ी तन की आस॥[9]

कबीर सांसारिकता में लिप्त जीव को 'हद-जीव' कहते हैं। वे हद-जीव से सचेत रहने की बात करते हैं। हद-जीव साधना के मार्ग में घातक है। हद जीव से हित की उम्मीद बेकार है। जो जीव सांसारिक सीमाओं में नहीं बंधते वे 'बेहद-जीव' होते हैं। वे ईश्वर प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर होते हैं। बेहद-जीव ही सच्चा मित्र हो सकता है। उससे अपने मन की बात करनी चाहिए। वही मुक्ति का मार्ग बता सकते हैं—

कबीर हद के जीव सूं, हित करि मुखां न बोलि।
जे लागे बेहद सूं, तिन सूं अंतरि खोलि॥[10]

'हद जीव' सकामी होता है। वह फल की कामना करता है। भौतिक तत्वों के प्रति उसका तीव्र आकर्षण होता है। वह उसे पाने की कामना में ही अपना जीवन आगे बढ़ाता है। 'बेहद जीव' निहकांमी होता है। वह फल की कामना नहीं करता। भौतिक तत्वों को वह त्याज्य समझता है—

जब लग भगति सकांमता, तब लग त्रिफल सेव।
कहैं कबीर वे क्यूं मिलैं, निहकांमी निज देव॥[11]

कबीर शरीर को नश्वर मानते हैं। यह शरीर एक दिन नष्ट हो जाता है। तार्किक मन से युक्त मानव शरीर बहुत ही दुर्लभ है। यह मुक्तिकामी प्राणी को ही प्राप्त होता है। मानव शरीर में ही रहकर जीव वह सारे कर्म करता है जिससे जीवन-मरण के चक्र से मुक्ति मिलती है। यदि यह अवसर मिला है तो इसे हाथ से नहीं जाने देना चाहिए—

कबीर मनिषा जनम दुर्लभ है, देह न बारंबार।
तरवर थैं फल झाड़ि पड्या, बहुरि न लागै डार॥
कबीर यह तनु जात है, सकै तो लेहु बहोड़ि।
नागे हाथूं ते गये, जिनके लाख करोड़ि॥
कबीर यह तनु कांचा कुंभ है, लीयां फिरै था साथि।
ढबका लागा फूटि गया, कछु न आया हाथि॥[12]

जब जीव अपना अहंकार छोड़कर ईश्वर में निष्ठावान हो जाता है तब उसका द्वैत समाप्त हो जाता है। वह संपूर्ण दु:ख और दारिद्रय से मुक्त हो जाता है—

मेर मिटी मुक्ता भया, पाया ब्रहम बिसास।
अब मेरे दूजा को नहीं, एक तुम्हारी आस॥
जाकी दिल में हरि बसै, सो नर कलपै काँई
एक लहरि समंद की, दुख दलिद्र सब जाँइ॥[13]

इस तरह कबीर जीव को ईश्वर का ही अंग मानते हैं। वह अपने मूल स्वरूप को भूलकर विषयों में अनुरक्त है। जब तब वह अपने मूल स्वरूप को पहचान कर उसकी ओर अग्रसित नहीं होगा तब तक वह दुख-दर्द की अनुभूतियों से ग्रसित रहेगा।

माया:— कबीर संपूर्ण जगत को माया कहते हैं। यह दृश्य जगत क्षणिक है। ईश्वर के ज्ञान के अभाव में यह शाश्वत लगता है। ईश्वर ज्ञान प्राप्त होने पर यह भ्रम दूर हो जाता है। माया की कल्पना सर्वप्रथम शंकर के अद्वैत वेदांत में की गयी। डॉ. राधाकृष्णन ने शंकर के दर्शन में माया के छ: रूपों का वर्णन किया है। विश्व स्वत: अपनी व्याख्या करने में असमर्थ है जिसके फलस्वरूप विश्व का परतंत्र रूप दीख पड़ता है जिसकी व्याख्या माया के रूप में हुई है। ब्रह्म और जगत की व्याख्या के लिए माया का प्रयोग हुआ है। ब्रह्म विश्व का कारण कहा जाता है क्योंकि विश्व ब्रह्म पर आरोपित किया गया है। विश्व जो ब्रह्म पर आश्रित है, माया कहा जाता है। ब्रह्म का जगत में दिखाई पड़ना भी माया कहा जाता है। ईश्वर की शक्ति का रूपांतर विश्व के रूप में होता है। जिसे माया कहा जाता है।[14] कबीर ने लगभग इसी रूप में माया को पहचाना है। यह सत्कर्मों से विमुख करती है।[15] यह पापिन है, सारा संसार इसके फंदे में फँसा है।[16] यह जीवों में तृष्णा पैदा करती है।[17]

यह जीवों को भगवान से विमुख करती है।[18] यह मोहिनी है। यह ज्ञानी और बुद्धिजीवियों को भी मोहित कर लेती है।[19] यह संत की दासी है।[20] यह जीवों में आशा का संचार करती है।[21] यह डाइन है, सभी सांसारिक व्यक्तियों को खा जाती है।[22] यह सत्वादि तीन गुणों का वृक्ष है, इसकी शाखाएँ दुख और संताप से निर्मित हैं।[23] यह त्रिगुणात्मक बदली है।[24] यह अंधकारमयी, अज्ञानरूपी काली कम्बली है।[25] इसने संसार में सभी को अज्ञान की शृंखला से बाँध रखा है।[26] कबीर ने माया के इन सभी रूपों से मुक्त रहने का उपदेश दिया है—

माया आदर माया मान, माया नहीं तहाँ ब्रह्म गियाँन॥
माया रस माया कर जाँन, माया कारनि तजै परान॥
माया जप तप माया जोग, माया बाँधे सबहीं लोग॥
माया जल थलि माया आकासि, माया व्यापि रही चहुँपासि॥
माया माता माया पिताा, असि माया अस्तरी सुता॥
माया मारि करै व्यवहार, कहैं कबीर मेरे राम अधार॥[27]

जगतः— ईश्वर की अव्यक्त शक्ति माया है। माया के दो गुण हैं— आवरण और विक्षेपण। अपने विक्षेपण गुण की वजह से वह ईश्वर के अंश को ग्रहण करती है फिर आवरण गुण के कारण वह उस पर आवरण डालती है। यानि कि वह उसे रूप या आकार देती है। इसी प्रक्रिया से वह जीव और जगत दोनों का निर्माण करती है। शंकराचार्य ने माना है कि "सर्वप्रथम ईश्वर से पाँच सूक्ष्म भूतों का आविर्भाव होता है। अग्नि वायु से उत्पन्न होती है। इस प्रकार आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी से सूक्ष्म भूतों का निर्माण होता है। पाँच स्थूल भूतों का निर्माण पाँच सूक्ष्म भूतों का पाँच प्रकार के संयोग के फलस्वरूप होता है। जिस सूक्ष्म भूत को स्थूल भूत में परिवर्तित होना है उसका आधा भाग तथा अन्य चार सूक्ष्म तत्वों के आठवें हिस्से के संयोजन से पाँच स्थूल भूतों का निर्माण होता है। इस क्रिया को पंचीकरण कहा जाता है। प्रलय का क्रम सृष्टि के क्रम के प्रतिकूल है। प्रलय के समय पृथ्वी का जल में, जल का अग्नि में, अग्नि का वायु में, वायु का आकाश में तथा आकाश का ईश्वर की माया में लय हो जाता है।"[28]

कबीर ने बार-बार सत्, रज्, तम् इन तीन गुणों और आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी इन पाँच तत्वों से संसार के रचे जाने की बात कही है, किंतु इन तत्वों से घटित जगत और शरीर को नश्वर मानते हैं—

यहु ऐसा संसार है, जैसा सैंबल फूल।
दिन दस के व्योहार कौं, झूठै रंगि न भूलि॥[29]

यह संसार अथाह सागर है। इस संसार रूपी सागर से पार होना बहुत कठिन है। इसका एक मात्र उपाय ईश्वर का स्मरण है—

संसार सागर विषम विरणां, सुमरि लै हरि नाम।
कहैं कबीर तहाँ जाइ रहणां, नगर बसत निधान॥[30]

यह संसार असीम दुखों का आश्रय है। इनमें चारों तरफ भूख और अभाव व्याप्त है। ईश्वर की कृपा के बिना इससे बाहर निकल पाना संभव नहीं है—

दुनिया भाँड़ा दुख का, भरी मुहांमुह भूष।
अदया अलह राम की, सोना सवाँ शरीर॥[31]

यह संसार सारहीन है। इसका कोई व्यवस्थित रूप नहीं है। यह व्यक्ति के स्वभाव के अनुरूप कभी कड़वा तो कभी मीठा प्रतीत होता है—

कबीर यहु जुग कुछ नहीं, षिन षारा षिन मीठ।
काल्हि जूं बैठा मालियाँ, आज मसाणां दीठ॥[32]

कबीर शरीर की पाँच इंद्रियों को कुसंगी मानते हैं। इंद्रियों का आकर्षण जगत के प्रति होता है। यह जगत माया-मोह के जल से आपूर्ण है। यह शरीर कागज की नौका के समान है। ऐसी स्थिति में इंद्रियों के बस में रहकर संसार सागर को पार नहीं किया जा सकता है—

कागद केरी नाँव री, पांणी केरी गंग।
कहैं कबीर कैसे तिरूँ, पंच कुसंगी संग॥[33]

कबीर संसार सागर से उबरने का रास्ता भी बताते हैं। सारा संसार माया-मोह की आग में जल रहा है। इस लोभ-मोह के आकर्षण में जलने से अच्छा है कि ईश्वर का स्मरण करो और साधु संगति करो। इसके अलावा अन्यत्र कहीं भी सुख-शांति नहीं है। ईश्वर का नाम ही संपूर्ण दुख दूर करने वाला है। ईश्वर ही संसार में सार वस्तु है। यही संसार सागर से पार निकालने वाला साधन है—

माया मोह और जग आगी, ता संगी जरसि कवन रस लगी।
त्राहि-त्राहि करि हरी पुकारा, साधु संगति मिलि करहुं बिचारा॥
रे रे जीवन नहीं विश्रांमां, सब दुख मंडन राम को नामां।
रांम नांम संसार मैं सारा, रांम नांम भव तारन हारा॥[34]

कालः— कबीर ईश्वर की दो शक्तियाँ मानते हैं—1. माया 2. काल। माया अपने आवरण व विक्षेपण गुणों से भौतिक संसार का निर्माण करती है। काल अपनी ग्रास शक्ति से इस मायावी संसार को ग्रस लेता है। काल एक और अखंड है। यह व्यापक और अव्यक्त है। भौतिक संसार में यह 'समय' नाम से अभिहित किया जाता है। मनुष्य ने अपने लोक व्यवहार में इसे दिन, महीना, वर्ष आदि में विभक्त कर लिया है। कबीर ने काल को पल, बाज, जम, लुहार, मरण, खटिक, सर्प आदि नामों से अभिहित किया है। इसके हाथ से संसार का कोई व्यक्ति बच नहीं पाया है। एक-एक कर सबको इसने अपना शिकार बना लिया है—

कबीर बारी-बारी आपणीं, चले पियारे मांत।
तेरी बारी रे जीया, नेड़ी आवै न्यंत॥[35]

कबीर मनुष्य के जीवन को पानी की बूँद और रात में दिखने वाले तारे के समान क्षणभंगुर मानते हैं। जिस तरह प्रात:काल होते ही तारे छिप जाते हैं उसी तरह एक दिन हमारा जीवन भी समाप्त हो जायेगा—

पांणी केरा बुदबुदा, इसी हमारी जाति।
एक दिन छिपि जांहिंगे तारे ज्यूं परभाति॥[36]

लोग अवास्तविक सांसारिक सुख को सुख मानते हैं और आह्लादित होते हैं, जबकि यह संसार ही काल का चर्वण है। कुछ हिस्सा उसके मुँह में है और कुछ उसकी गोद में है—

झूठे सुख कौ सुख कहै, मानत है मन मोद।
खलक चबीणां काल का, कुछ मुख मैं कुछ गोद॥[37]

इसलिए ईश्वर का स्मरण ही सार्थक है। अन्य सभी कार्य जंजाल अर्थात् बंधन में डालने वाले हैं। आदि से अंत तक जो कुछ भी है वह काल के कब्जे में है—

कबीर सुमिरन सार है, और सकल जंजाल।
आदि अंत सब सौंधिया, दूजा देखौं काल॥[38]

मोक्षः— मोक्ष भारतीय जीवन दर्शन की वह अवस्था है जिसमें जीव का ब्रह्म से एकाकार हो जाता है। इस अवस्था से पहले जीव का अपना स्वतंत्र अस्तित्व होता है। आत्मा मूलरूप में ब्रह्म का अंश है। शरीर के साथ आसक्त होने पर बंधन युक्त हो जाती है और शरीर के सुख-दुख को अपना सुख-दुख समझने लगती है। यही बंधन है। बंधन युक्त आत्मा ही जीव है। जीव जन्म-मरण के चक्र में आबद्ध है। इस चक्र में जीव को हर पल दुख का सामना करना पड़ता है। प्रश्न उठता है कि दुख कहाँ से आता है? इस दु:ख का सामना आदि से आज तक के सभी मनुष्य को करना पड़ा है, लेकिन अभी तक कोई सार्थक समाधान हमारे सामने नहीं आया है। कबीर मनुष्य की भौतिक वासनाओं को दु:ख का कारण मानते हैं। उनके अनुसार जब तक मनुष्य में भौतिक वासनाएँ विद्यमान हैं तब तक वह दु:ख से छुटकारा नहीं पा सकता। इससे छुटकारा पाने के लिए उसे अपने आत्म तत्व को पहचानना होगा और भौतिक वासनाओं से अपने को दूर रखना होगा। जब वह इन वासनाओं से दूर हो जायेगा तब वह सुख-दु:ख के बंधन से मुक्त हो जायेगा। यही जीवन की पूर्णता है। दर्शन में इसी को मोक्ष कहा जाता है।

भूखा-भूखा क्या करै, कहा सुनावै लोग।
भांड़ा, छाड़ि जिनि मुख दिया, सोई पूरण जोग॥[39]

यह संसार और शरीर ही मनुष्य के दु:ख का कारण है। इसको त्याग देने में ही जीवन की सार्थकता है। जो जीवित रहते हुए इसे त्याग देता है वह दु:ख से मुक्त हो जाता है। वह ईश्वर की शरण में चला जाता है और ब्रह्मानन्द को प्राप्त कर लेता है—

जीवन मृतक हवै रहै, तजै जगत की आस।
तब हरि सेवा आपंण करै, मति दुख पावै दास॥[40]

कबीर जीवन स्वर्ग-नरक की अवधारणा का खंडन करते हैं। बी. आर. विप्लवी ने ठीक ही लिखा है कि "वे स्वर्ग-नरक के कल्पित संसार को तर्क द्वारा झूठा साबित करते हैं तथा कहते हैं कि लोग चलने-चलने को कहते रहते हैं, बिना यह जाने कि जिस बैकुंठ जाने की बात वे कहते हैं उसका पता-ठिकाना क्या है—"चलन-चलन सब को कहत है, ना जानौ बैकुंठ कहाँ है।" या फिर "चार वेद चहुमत का विचार, यही भ्रम भूलि परख्यौ संसार" के माध्यम से वे वेद-पुराण और बैकुंठ जैसी धारणाओं को मिथ्या साबित करते हैं। जिसके भ्रम में संसार फँसा हुआ है।"[41]

इस तरह कबीर का दार्शनिक चिंतन उनके सामाजिक और धार्मिक चिंतन के धरातल पर खड़ा था। उनका दार्शनिक चिंतन शुद्ध ज्ञानपरक चिंतन नहीं था। उनका तात्विक विश्लेषण समाज सापेक्ष था। उन्होंने तात्विक विश्लेषण मानव दुःख निवारण के संदर्भ में किया। उन्होंने ईश्वर के साथ मनुष्य का एक संवेदनात्मक संबंध स्वीकार किया। इसका कारण देश की सामाजिक परिस्थितियाँ थीं। इतिहास की गहराई में नजर डालें तो इस तरह का चिंतन होना स्वाभाविक लगता है। उस समय धन और शक्ति ही जीवन का लक्ष्य बन चुका था। उसी के लिए मनुष्य मनुष्यता की सभी मर्यादा लाँघ चुका था। मनुष्यता का कत्लेआम आम हो चुका था। जनता निराश हो चुकी थी। वह जाति, धर्म में विभाजित हो चुकी थी। वह वह मंदिर-मस्जिद में अपनी मुक्ति का रास्ता तलाश रही थी। मंदिर-मस्जिद भी बाह्याडंबर और कर्मकांड के घेरे में फँस चुके थे। ऐसे में कबीर ने सामान्य जनता को बाह्याडंबर और कर्मकांड के घेरे से मुक्ति दिलाने के लिए निर्गुण ईश्वर का मार्ग दिखलाया, जहाँ न काम है, न क्रोध है, न लोभ है, न मोह है। ईश्वर सबके अंदर विद्यमान है, जरूरत है तो उसको पहचानने की। आत्म नियंत्रण से ही उसको पहचाना जा सकता है। व्यक्ति का स्वाभिमान, आत्मबल, तर्कचेतना ही कबीर का ईश्वर है जो किसी भौतिक तत्व या दूसरी दुनिया में नहीं बल्कि उसके अपने ही शरीर में निवास करता है।

संदर्भः

1. कबीर-मीमांसा, ले. रामचन्द्र तिवारी, पृ. 113
2. कबीर-ग्रंथावली, सं.- डॉ. माता प्रसाद गुप्त, पृ. 257
3. कबीर-ग्रंथावली, सं.- डॉ भगवत् स्वरूप मिश्र, पृ. 294
4. वही, पृ. 32
5. वही, पृ. 405
6. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, पृ. 311

7. कबीर-ग्रंथवाली, सं.- डॉ. भगवत् स्वरूप मिश्र, पृ. 74
8. वही, पृ. 65
9. वही, पृ. 156
10. कबीर-ग्रंथावली, सं.- डॉ. श्यामसुन्दर दास, पृ. 68
11. वही, पृ. 63
12. कबीर-ग्रंथावली, सं- डॉ. माता प्रसाद गुप्त, पृ. 43-44
13. कबीर-ग्रंथावली, सं.- डॉ. श्यामसुन्दर दास, पृ. 94, बेसास कौ अंग
14. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, पृ. 302-303
15. कबीर-ग्रंथावली, सं.- डॉ. श्यामसुन्दर दास, पृ. 73, माया कौ अंग, पद सं. 1
16. वही, पृ. 73, माया कौ अंग, पद सं. 2
17. वही, पृ. 73, माया कौ अंग, पद सं. 3
18. वही, पृ. 73, माया कौ अंग, पद सं. 4
19. वही, पृ. 73, माया कौ अंग, पद सं. 6
20. वही, पृ. 74, माया कौ अंग, पद सं. 10
21. वही, पृ. 73, माया कौ अंग, पद सं. 5
22. वही, पृ. 74, माया कौ अंग, पद सं. 21
23. वही, पृ. 74, माया कौ अंग, पद सं. 20
24. वही, पृ. 74, माया कौ अंग, पद सं. 23
25. वही, पृ. 75, माया कौ अंग, पद सं. 24
26. वही, पृ. 75, माया कौ अंग, पद सं. 25
27. वही, पृ. 137, पद सं. 84
28. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, पृ. 319
29. कबीर-ग्रंथावली, सं.- डॉ. भगवत् स्वरूप मिश्र, पृ. 57

30. वही, पृ. 339

31. वही, पृ. 64

32. वही, पृ. 159

33. वही, पृ. 72

34. वही, पृ. 456

35. वही, पृ. 158

36. वही, पृ. 159

37. वही, पृ. 156

38. वही पृ. 12, पद–5, सुमिरण कौ अंग

39. वही, पृ. 128, पद–2, बेसास कौ अंग

40. कबीर–ग्रंथावली, सं.– डॉ. श्यामसुन्दर दास, पृ. 98, जीवन मृतक कौ अंग, पद सं. 01

41. दलित दर्शन की वैचारिकी, बी.आर.विप्लवी. पृ. 95

❑❑

हिंदी आलोचना के प्रवर्त्तक आचार्य पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

—दानबहादुर सिंह

रीतिकाल का अवसान और भारतेन्दु का अभ्युदय हिंदी साहित्य के लिए नए-युग का सूत्रपात कहा जा सकता है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के कार्यकाल में हिंदी का वास्तविक विकास-कार्य आरंभ हुआ। उनके संपादकत्व में 'सरस्वती' पत्रिका का प्रकाशन आरंभ हुआ। उसमें पद्मसिंह शर्मा जी ने दो अथवा दो से अधिक कवियों की रचनाओं में समानता दिखाते हुए उन पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया। उनके इस प्रकार के कुछ लेख हैं—'बिहारी और फ़ारसी कवि शेख सादी की समालोचना', 'भिन्न भाषाओं के समानार्थी पद्य', 'भिन्न भाषाओं के कवित्व का बिंब-प्रतिबिंब भाव'। 'बिहारी सतसई: तुलनात्मक अध्ययन', 'गाथा सप्तशती और बिहारी सतसई', 'आर्यासप्तशती और बिहारी-सतसई', 'आर्यासप्तशती और कालिदास' आदि। मिश्रबन्धु, पंडित कृष्णबिहारी मिश्र तथा लाला भगवानदीन इस युग के प्रसिद्ध समालोचक थे। इनमें अपने गहन अध्ययन प्रखर प्रतिभा तथा अप्रतिम शैली के कारण शर्मा जी ने विशेष ख्याति प्राप्त की। हिंदी में तुलनात्मक आलोचना के तो वह प्रवर्त्तक ही माने जाते हैं। उनके कार्यों में 'बिहारी सतसई तुलनात्मक अध्ययन' (बिहारी की सतसई पहला भाग) जिसमें अनेक दृष्टियों से 'बिहारी सतसई' के दोहों की संस्कृत, प्राकृत उर्दू, फारसी आदि के समान वाले छंदों से तुलना की गई है। शर्मा जी के इस ग्रंथ पर 1980 वि. में हिंदी साहित्य सम्मलेन, प्रयागराज द्वारा मंगलाप्रसाद पारितोषिक से सम्मानित किया गया था। उक्त ग्रंथ से 'बिहारी सतसई' के एक दोहे की तुलनात्मक व्याख्या प्रस्तुत है—

दोहा— तिय कित कमनैती पढ़ी बिन जिह भौंह कमान।
चल चित बेझे चुकत नहिं बंक बिलोकनि बान॥

पद्य— मुग्धे! धानुष्कता केयमपूर्वा त्वयि दृश्यते।
यया विध्यासि चेतांसि गुणैरेव न सायकै:॥

उपर्युक्त पद्य में कहा गया है कि मुग्धे! तुझे यह कैसी अपूर्व धनुर्विद्या आती है जिससे तू गुणों से ही चित्तों को बींधती है, वाणी से नहीं।

पद्य केवल 'गुणै:', पद में एक जरा-सी करामात है, जिससे यह साहित्य संसार में अच्छी प्रसिद्धि पा गया है। 'गुण' शब्द श्लिष्ट है, गुण का अर्थ है सौंदर्य आदि और कमान की डोरी। अब जरा तुलनात्मक दृष्टि से देखिए। देखें बिहारी का दोहा करामातों की खान है, कि नहीं।

पद्य के पूर्वार्द्ध का भाव 'तिय कित कमनैती पढ़ी' दोहे के इस एक पाद में आ गया है। अब इसके आगे इस प्रश्न की व्याख्या कमनैती की अपूर्वता-आरंभ होती है। इस कमनैती में भौंह की कमान तो है, पर उस पर जिह (ज्या) डोरी नहीं है। 'बंक बिलोकनि बान', बाण है तो तिरछे टेढ़े (तिरछी नज़र) यह तो कमनैती की सामग्री है- बिना डोरी की कमान और टेढ़े बान-और लक्ष्य (निशाना) है अलक्ष्य 'चल चित'। निमेश मात्र जिसकी गति नहीं रुकती, संसार भर के चंचल पदार्थ जिसके सामने पंगु हैं, खुर्दबीन और दूरबीन से भी जो दिखाई नहीं पड़ता, ऐसा चंचल चित्त है निशाना। इस पर भी वार खाली नहीं जाता 'बेझे चुकत नहिं' दिले-बेकरार बिंध तो जाते हैं, मजाल है निशाना जरा चूक जाय! इसका नाम है विचित्र कमनैती!!

दुष्यंत के सेनापति इतने को ही धनुर्धारियों का उत्कर्ष मान बैठे थे कि भागते-दौड़ते जंगली जानवारों का निशाना ठीक बैठ गया, और बस।

उत्कर्ष: सच धंविनां यदिषव: सिद्धयंति लक्ष्ये चले'- 'अभिज्ञान शाकुंतलम', वह बिहारी की इस कमनैती का करतब देखते तो जानते कि उत्कर्ष इसमें है, उसमें तो खाक नहीं—

'बड़े मूजी को मारा नफ़ से अम्मारह को गर मारा।
निहंगो अजदहाओं शेरे नर मारा तो क्या मारा"॥ -ज़ौक

(मूजी= अकारण बैरी, दु:खदाई। नफ़से - अम्मारह = मन, निहंग = नक्र, मगर। अजदहा=अजगर)

सुप्रसिद्ध साहित्यकार डॉ. रामचन्द्र तिवारी ने पंडित पद्मसिंह शर्मा की सर्वाधिक प्रसिद्धि का कारण उनकी तुलनात्मक आलोचना को बतलाया है। वे लिखते हैं- पद्मसिंह शर्मा तुलनात्मक आलोचना के लिए प्रसिद्ध हैं। निबंधों में भी उन्होंने प्राय: इसी पद्धति को अपनाया है। उनकी शैली प्रशंसात्मक और प्रभावपूर्ण है, साथ ही उनमें खंडन-मंडन की विशेष क्षमता थी। उनके चुस्त और चुभते हुए वाक्य विशिष्ट शैली की सृष्टि करने वाले हैं। डॉ. नगेन्द्र ने उनके बारे में लिखा है; द्विवेदी युगीन समीक्षकों में पंडित पद्मसिंह शर्मा का नाम विशेष रूप से बहुचर्चित रहा है। हिंदी समीक्षा के प्रारंभिक काल में जिस तुलनात्मक समीक्षा का उद्भव हुआ, उसके प्रवर्त्तक शर्मा जी ही थे। श्रृंगार के रस राजत्व को प्रतिष्ठित करने तथा बिहारी के काव्य-सौंदर्य को उद्घाटित करने की दिशा में आपका योगदान अविस्मरणीय है। पंडित पद्मसिंह शर्मा की साहित्य में श्लील-अश्लील तथा अतिशयोक्ति स्वभावोक्ति की अवधारणाओं के क्षेत्र में गहरी पैठ थी। डॉ. नगेन्द्र (संपादक हिंदी साहित्य का इतिहास पृ. 525) लगभग संवत् 1960 वि. में विद्यावारिधि पंडित ज्वाला प्रसाद मिश्र ने 'बिहारी सतसई' पर एक टीका लिखी थी। उसे सब प्रकार से उत्तम घोषित किया गया था।

कालांतर में उस टीका को निकृष्ट कोटि का माना गया। पंडित पद्मसिंह शर्मा ने उक्त टीका को भलीभाँति देखा और उसका खंडन किया। 1910 ई. में 'सरस्वती' में एक लेख 'सतसई-संहार' लिखा। संवत् 1980 वि. में इसी नाम से नायक नागला चाँदपुर (बिजनौर) से प्रकाशित हुई थी। इसी पुस्तक में पंडित पद्मसिंह शर्मा एक प्रखर आलोचक के रूप में उभरते दिखाई दिये। उनकी पकड़ अनोखी है। उनकी तीव्र दृष्टि दोषों को तुरंत पकड़ लेती है और वे मूल भाव की तह तक जा पहुँचते हैं। उनका चिंतन प्रगाढ़ था। गूढ़ गंभीर विषय को भी वे हास्य-व्यंग्य का पुट दे कर सहज ग्राह्य बना देते थे।

तुलनात्मक आलोचना की उपयोगिता चाहे जितनी हो, पर इसकी विश्लेषण-पद्धति को संदेह की दृष्टि से ही देखा गया है। ऐसा इसलिए है कि पूर्वाग्रह से मुक्त होने के फलस्वरूप इसमें किसी कवि, काव्य के मूल्यांकन में खटकने वाला दोष रह जाना भी संभव है। इसमें समीक्षक एक कवि को श्रेष्ठ बतलाने के लिए अन्य को श्रेष्ठ नहीं है, ऐसा कहने में भी नहीं चूकता है। शर्मा जी नाना भाषाओं विशेष रूप से संस्कृत, फारसी, उर्दू, और हिंदी के भी विद्वान थे। संगीत कला में भी उनका रुझान था। कविवर बिहारी के प्रति सर्वाधिक आकर्षण का कारण था सतसई में भाषा चमत्कार, शब्दों और सूक्तियों की लावण्यता शृंगार-रस की बाहुल्यता और अभिव्यक्ति की कुशलता आदि। महामना मालवीय जी ने शर्मा जी के पांडित्य से प्रसन्न होकर उन्हें अनेक बार काशी हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में प्राध्यापक पद के लिये आमंत्रित किया था। किंतु वह वहाँ अपनी सेवाएँ नहीं दे सके। वह अपने जीवन में केवल गुरुकुल कांगड़ी में ही हिंदी विषय के प्राध्यापक के रूप में बने रहे। वह 1928 में अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन के सभापति चुने गए। 1932 ई. में हिंदुस्तानी एकेडेमी प्रयागराज के अनुरोध पर अपना एक आलेख हिंदी, उर्दू, हिंदूस्तानी पढ़ा और उसे अब तक का अद्वितीय आलेख स्वीकार किया गया। वह 07 अप्रैल 1932 को इस संसार से दिवंगत हो गए। शर्मा जी स्वभाव से मृदुभाषी, सहृदय एवं विनीत स्वभाव के थे। उनके भीतर किसी के प्रति यदि क्रोध आ गया तो वह उसकी जड़ खोद डालते थे। 1920 और 1930 ई. के बीच बिहारी और देव की तुलनात्मक गरिमा के संबंध में हिंदी जगत् में बड़ा विवाद छिड़ा। बिहारी के पक्ष में थे काशी के लाला भगवानदीन और देव के पक्ष में थे लखनऊ से मिश्र बंधु। दोनों ओर से बड़ी गरमा-गरमी चल रही थी। यहाँ तक कि कानपुर के 'प्रताप-पत्र' ने एक व्यंग्य चित्र भी प्रकाशित कर दिया था, जिसमें एक ओर लाला भगवानदीन और दूसरी ओर मिश्र बंधु अखाड़े में ताल ठोंकते चित्रित किए गए थे।

कविवर बिहारी रीतिकाल के महाकवि कहे जा सकते हैं और संपादकाचार्य पद्मसिंह शर्मा 'बिहारी सतसई' के अद्वितीय अनुसंधानकर्ता कहे जा सकते हैं। उन्होंने बिहारी के दोहों का बड़ी गहराई से अनुसंधान किया है। बिहारी के एक दोहे से बात स्पष्ट हो जाती है:-

"मेरी भवबाधा हरौ राधा नागरि सोय।
जा तन की झांई परे स्याम हरित-दुति होय॥

आचार्य जी के अनुसार श्रृंगार-रस प्रधान बिहारी सतसई का यह आशीर्वादात्मक मंगलाचरण है। तन, झांई और हरित-दुति में से प्रत्येक के तीन-तीन अर्थों से तीन तरह की अर्थ योजना तो की ही है, इसे बहुत से लोग जानते हैं। रत्नाकरजी ने भी इसका उल्लेख किया है। हरिचरणदास ने भी अनेक संकेत स्पष्ट किये हैं। शर्मा जी ने घंटानुरणन न्याय से न जाने कितनी अर्थ परतों को उघाड़ा है। 'हरित-दुति' को ही लें-यत्न पूर्वक पुनः पुनः अनुसंधान करें। हरित-दुति अर्थात् 'हरा होना' एक मुहावरा भी है। रूढ़ लाक्षणिक प्रयोग भी है और निरा अभिधात्मक प्रयोग भी। हरितदुति का हत-द्युति भी है। शर्मा जी और यत्न-पूर्वक अनुसंधान करते हैं और कहते हैं "हरितदुति न चंपकवर्णी राधा की है और न घनश्याम की। किंतु इन दोनों के राधा-श्याम के मेल से शांति पद हरित वर्ण की उत्पत्ति है। इस अर्थ से कवि का भाव यह ध्वनित होता है कि शक्तिशून्यब्रह्म अथवा ब्रह्मविरहित शक्ति की उपासना में शांति नहीं है। जो भक्त जनशक्ति की विशिष्ट ब्रह्म अथवा सगुण ब्रह्म के उपासक हैं, वह भव-बाधा से छूट कर शांति पाते हैं। यह अर्थ वही यत्नपूर्वक पकड़ सकता है जो निम्बार्क संप्रदाय के आराध्य युगल का रहस्य जानता है। शर्मा जी का कहना है कि "हरा होना" और 'सरस कहना' एक ही बात है। जिस पदार्थ में रस होता है, वही हरा कहलाता है। जैसे हरी टहनी। इससे यह भाव प्रकट होता है कि राधा जी की छाया से, कृपा से कृष्ण सरस होते हैं- रसिक बिहारी कहलाते हैं।" शर्मा जी में सरस दोहन की अद्भुत क्षमता थी और वह सहृदय शिरोमणि और सहृदय आलोचक भी थे।

आचार्य पद्मसिंह शर्मा ने संस्कृत साहित्य का गहन अध्ययन किया था। उन्होंने संस्कृत साहित्य में विशेष रूप से अष्टाध्यायी का मनोयोग पूर्वक अध्ययन किया था जिससे उन्हें व्याकरण का अच्छा ज्ञान था। उनके दिवंगत होने पर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने संस्कृत में श्लोक बनाकर उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित की थी।

याते दिवं त्वयि सुहृद्वर पद्मसिंह।
तत्रैव सा सुजनताऽपि गतैव मन्ये॥

अर्थात् हे श्रेष्ठमित्र! पद्मसिंह तुम्हारे स्वर्ग चले जाने पर मुझे लगता है कि सज्जनता भी वहीं चली गई है। अब संसार से सौजन्य का मानो अभाव-सा हो गया है। आचार्य पद्मसिंह शर्मा ने वास्तव में अपने सुसंस्कृत व्यक्तित्व से आजीवन उस सौजन्य का प्रमाण भी दिया। एक बार जब उनके किसी निंदक ने पत्र में उन्हें अनेक दुर्वचन लिखे, तब उसे प्रत्युत्तर में कोई दुर्वचन न लिखकर केवल यह श्लोक लिखकर भेजाः-

अस्मानवेहि कलमानलमाहतानाम्,
येषां प्रचंडमुसलैरवदाततैव।
स्नेह विमुच्य सहसा खलतां प्रयांति,
ये स्वल्पपीडनवशान्न वयं तिलास्ते॥

अर्थात् हमें तुम वे (धान अक्षत, चावल) समझो जो मूसल के प्रचंड आघात पर आघात खाने पर भी श्वेतता (श्लेष से सात्विक सौजन्य) ही प्राप्त करते जाते हैं। हम वे तिल नहीं हैं जो जरा सी पीड़ा पेरने से स्नेह (तेल) छोड़ कर खलता (खली बन जाना श्लेष से दुष्टता) को प्राप्त हो जाते हैं। उन्होंने 1961 वि. में गुरुकुल कांगड़ी में और 1966 वि. से 1974 वि. तक संस्कृत महाविद्यालय ज्वालापुर में अध्यापन किया। संस्कृत के उद्भट् विद्वान होने के नाते आर्य समाज ने उन्हें 1961 में उपदेशक नियुक्त किया था। उन्होंने संस्कृत के प्राचीन कवियों और संस्कृत साहित्य शास्त्र के सभी ग्रंथों से ज्ञान प्राप्त किया। उन्हें संस्कृत व्याकरण, दर्शन, काव्य शास्त्र, ज्योतिष, वैद्यक शास्त्र आदि का अच्छा बोध था। पंडित जी ने अपने युवाकाल में ही सभी प्रकार के धर्मग्रंथों, वेदों, पुराणों स्मृति ग्रंथों उपनिषदों आदि का गहन अध्ययन किया था। उनकी स्मरणशक्ति अत्यंत कुशाग्र थी। उनका अध्ययन इतना प्रगाढ़ था कि हिंदी और संस्कृत तथा अन्य भाषाओं के पंडित उनसे शास्त्रार्थ करने से डरता था। आचार्य पद्मसिंह शर्मा के साहित्यिक प्रतिमानों के बारे में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं: "उस साहित्य परंपरा का बहुत ही अच्छा उद्घाटन है जिसके अनुकरण पर बिहारी ने अपनी प्रसिद्ध सतसई की रचना की। 'आर्यासप्तशती' और 'गाथा सप्तशती' के बहुत से पद्यों के साथ बिहारी के दोहों का पूरा-पूरा मेल दिखाकर शर्मा जी ने बड़ी विद्वत्ता के साथ एक चली आती हुई साहित्यिक परंपरा के बीच बिहारी को रखकर दिखाया। किसी चली आती हुई साहित्यिक परंपरा का उद्घाटन भी साहित्यिक समीक्षा का एक भारी कर्तव्य है। हिंदी के दूसरे कवियों के मिलते-जुलते पद्यों की बिहारी के दोहों के साथ तुलना करके शर्मा जी ने तारतम्यिक आलोचना का शौक पैदा किया। इस पुस्तक में शर्मा जी ने इन आक्षेपों का भी बहुत कुछ परिहास किया जो देव को ऊँचा सिद्ध करने के लिए बिहारी पर किये गए थे। हो सकता है कि शर्मा जी ने बहुत से स्थलों पर बिहारी का पक्षपात किया हो, पर उन्होंने जो कुछ किया वह एक अनूठे ढंग से किया है। उनके पक्षपात का भी साहित्यिक मूल्य है।"

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के बाद मिश्रबंधुओं ने आलोचना के क्षेत्र में पदार्पण किया। सन् 1910-11 में उनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'हिंदी नवरत्न' प्रकाशित हुआ। तदन्तर विशुद्ध समालोचनात्मक ग्रंथ है। इसमें हिंदी के पुराने कवियों की कृतियों की समीक्षा छपी थी। किंतु लोग उसे देख कर प्रसन्न नहीं हुए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तो साफ कह दिया है, कि उनकी समालोचना से समालोचकों का विस्तृत अध्ययन, सूक्ष्म अन्वीक्षण बुद्धि और मर्मग्राहिणी प्रज्ञा का परिचय नहीं मिलता। उन्होंने उदाहरण दे-देकर सिद्ध किया कि इस ग्रंथ में बहुत-सी बे-सिर पैर की बातें भरी हुई हैं तथा कवियों की विशेषताओं के मार्मिक निरूपण की आशा से जो भी हिंदी नवरत्न का अध्ययन करेगा वह निराश ही होगा। इस प्रकार से देखा जाए तो वह समय हिंदी समीक्षा की शुरुआत थी। इसी समय हिंदी आलोचना के क्षेत्र में पंडित पद्मसिंह शर्मा का अविर्भाव हुआ। उन्होंने बिहारी के दोहों पर भाष्य तथा आलोचना दोनों ही लिखीं। समालोचना तो सन् 1910 में 'सरस्वती पत्रिका' में सतसई संहार नाम से वर्ष भर तक निकलती रही पर विस्तृत आलोचना और भाष्य 7-8 वर्ष बाद लिखा गया जो 'बिहारी सतसई' नाम से सन् 1918 (सं. 1975) में काशी के ज्ञान मंडल द्वारा प्रकाशित हुआ। पहले भाग

में भाष्य की भूमिका रूप तुलनात्मक आलोचना सतसई का सौष्ठव और सतसई संहार सम्मिलित है। दूसरे भाग में सतसई का भाष्य है।

शर्मा जी विशुद्ध साहित्यानुरागी विद्वान थे। संस्कृत साहित्य का गहन अध्ययन किया था। हिंदी कविता, संस्कृत कविता के सामने उन्हें अशक्त नजर आती थी। हिंदी भाषा की कविता में ऐसा मनमोहक चमत्कार हो सकता है, इसका उन्हें विश्वास न था। कि उन्होंने अचानक बिहारी के दोहों को अनेक बार विधिवत् पढ़ा। तुलनात्मक दृष्टि से भी देखा। संस्कृत, प्राकृत, उर्दू और फारसी की कविता की बराबरी में भी रख कर देखा। अंततोगत्वा उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि बिहारी अपने क्षेत्र में अकेले हैं। जिन्होंने इस प्रकार के दोहों की संरचना की है। उन्होंने इस संदर्भ में अनेक विद्वानों से विचार-विमर्श भी किया। इस तरह बिहारी की कवित्व-शक्ति से अभिभूत हो पद्मसिंह शर्मा चुप न रह सके- "ऐसी दशा में महाशय! यदि मैं बिहारी के विषय में कुछ कहने लगा हूँ तो सच समझिए केवल इसी विचार से कि ऐसे अवसर पर चुप रहना सहृदयता के हृदय में चुभनेवाला असह्य शल्य है। अक्षम्य अपराध है। कवि तार्किक शिरोमणि श्री हर्ष की आज्ञा है- वाग्जन्मवैफल्मसह्यशल्यं गुणाधिके वस्तुनि मौनिता चेत्।"

हिंदी आलोचना की विवेचना करते समय तुलनात्मक आलोचना के प्रवर्त्तक पंडित पद्मसिंह शर्मा का नाम कदापि भुलाया नहीं जा सकता। उनकी जैसी प्रतिभा आज के हिंदी आलोचकों में नहीं दिखाई देती। आचार्य प्रवर पं. रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, गणपति चन्द्र गुप्त, नामवर सिंह जैसे उद्भट आलोचक पाश्चात्य आलोचना शास्त्र से जुड़े रहे और उनके ऊपर पाश्चात्य देशों में हो रही आलोचना का प्रभाव किसी न किसी रूप में अवश्य पड़ा। इनमें से अधिकांश आलोचक प्रगतिशील आलोचना से प्रभावित भी रहे। जब कभी पं. पद्मसिंह शर्मा का नाम आएगा तो वह तुलनात्मक आलोचना के जनक अवश्यमेव कहे जाएंगें। उनके ऊपर न तो पाश्चात्य आलोचना का प्रभाव पड़ा और न ही वामपंथी आलोचना शास्त्र का। हाँ, अलबत्ता वह संस्कृत साहित्य-शास्त्र की आलोचना पद्धति से अवश्य प्रभावित रहे। बिहारी सतसई पर भाष्य करते समय संस्कृत में लिखे गए, ग्रंथों का आलोड़न-विलोड़न अवश्य किया था। "अमरूक शतक" 'गाथा सप्तशती' का भी अध्ययन बड़ी गंभीरता से किया था। बिहारी के ऊपर उनका किया गया अनुसंधान कार्य आज भी अद्वितीय कहा जा सकता है। वास्तव में वह एक पंरपरावादी आलोचक थे। टी. एस. इलियट के शब्दों में "उनका विश्वास था कि कोई भी रचना परंपरा से पृथक नहीं होती। यही नहीं परंपरा का अर्जन एकनिष्ठा साधना द्वारा ही संभव है और यही साधना एक ओर प्राचीनता के मोह और दूसरी ओर नवीनता की सजगता में उसे बाँध रखती है अर्थात् भूत और वर्तमान के संतुलन को बराबर बनाए रखती है।"

आलोनाचार्य पं. पद्मसिंह शर्मा एक प्रखर संपादक भी थे। उन्होंने अपने जीवनकाल में अनेक समाचार पत्रों जैसे, 'परोपकारी', 'अनाथ रक्षक', 'भारतोदय', ज्ञान मंडल से प्रकाशित ग्रंथों का संपादन आदि भी किया।

Tradition is a matter of much wider significance. It can not be inherited, and if you want it you must obtain it by great labour. -T.S.Eliot's Selected Essays, page 14.

कहने को यह भी कहा जा सकता है कि उनके मन में बिहारी की महिमा के प्रति आग्रह बुद्धि थी, परंतु इस बात को भी स्वीकार करना पड़ेगा कि उन्होंने जहाँ भी बिहारी का महत्व प्रतिपादित किया है, सर्वत्र सकारण ही किया है, गुण को गुण कहा है और ऐसे प्रसंग, उदाहरण, सादृश्य, तुलनाएँ और समर्थन संस्कृत, प्राकृत, उर्दू, फारसी और हिंदी के व्यापकतर साहित्यिक क्षितिज से खोज कर लाए हैं कि उनकी पहुँच, योग्यता और क्षमता तथा व्यापक पांडित्य की सराहना करते ही बनती है।

संदर्भः

1. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आधुनिक कालः प्र.3 काव्य खंडः नई धारा द्वितीय उत्थान पृ. 414
2. हिंदी साहित्यः युग और प्रवृत्तियाँ हिंदी आलोचना साहित्य का विकासः पृ. 612
3. हिंदी साहित्य का इतिहास, सं. नगेन्द्र आलोचना, पृ. 486
4. सम्मेलन पत्रिकाः भाग 64, सं. 1-4, पौष-मार्गशीर्ष शक-1099-1900 खंड-तीन
5. आचार्य पद्मसिंह शर्मा स्म्‌तिग्रंथ पृ. 404, 282

❑❑

गुरु नानक देव जी की वर्तमान प्रासंगिकता

—सपना शर्मा

किसी राष्ट्र की संस्कृति तथा इतिहास की मान-मर्यादा एवं गौरव ऐसे महान व्यक्तित्व होते हैं, जो अपने सिद्धांतों एवं विचारों से संपूर्ण विश्व को सुख, समृद्धि, शांति तथा उन्नति की ओर ले जाते हैं। ऐसे व्यक्तित्व केवल अपने लिए ही जीवन नहीं जीते, बल्कि संपूर्ण मानवता के लिए जीवन जीते हैं। कहा भी गया है कि जिस प्रकार वृक्ष अपने फल स्वयं नहीं खाते और नदी अपना जल स्वयं नहीं पीती उसी प्रकार संत साधु अपना जीवन अपने लिए नहीं जीते बल्कि संपूर्ण मानवता के लिए, परमार्थ के लिए जीवन जीते हैं। भारतीय परंपरा में ऐसे महामानव को अवतार कहते हैं।

सूर्य का ताप जब सभी जल स्रोतों को सुखाने लगता है। धरती पर मानव पशु-पक्षी, जीव-जंतु व्याकुल होने लगते हैं तब वर्षा ऋतु की धार संपूर्ण प्रकृति को इस संताप से मुक्ति दिलाती है। इसी तरह जब जनता अन्याय एवं अत्याचार की चक्की में पिसने लगती है तो इसकी गति को रोकने के लिए कोई-न-कोई महापुरुष जन्म लेता है। जिस समय मुसलमानों के अत्याचार से भारत की जनता पीड़ित एवं परेशान थी, धर्म आडंबर एवं पाखंड के पंक में डूबा था। अज्ञानता और भेदभाव ने मानवता को विषैला कर दिया था उस समय सिक्ख धर्म के प्रवर्तक आदि गुरु महामानव गुरु नानक देव का जन्म हुआ।

भारतवर्ष के महापुरुषों में गुरु नानक देव जी का स्थान अग्रगण्य एवं महत्वपूर्ण है। गुरु नानक देव जी भक्तिकाल की ज्ञानमार्गी शाखा के संत काव्य धारा के प्रमुख संत कवि हैं। इनकी मौलिक एवं प्रगतिशील विचारधारा के कारण ही सिक्ख धर्म अस्तित्व में आया। 'गुरु नानक देव का जन्म वैसाख सुदी 3 संवत् 1526 विक्रमी अर्थात् 15 अप्रैल 1469 ई. में हुआ। पर कुछ कारणों से इनकी जयन्ती कार्तिक पूर्णिमा को मनायी जाती है। इस संबंध में डॉ. गुरचरन सिंह के विचार है— "संभवत : वैसाख की संक्रांति को आनंदपुर में खालसा का जन्मोत्सव मनाने के तुरंत बाद सुदूर ननकाना में गुरु नानक जन्म पर्व मनाने के निमित्त सिक्खों के लिए जाना सुविधाजनक न होने के कारण, कालांतर में इस पर्व के उपेक्षित हो जाने की आशंका के फलस्वरूप तिथि बदल दी गई होगी।

इस अदल-बदल में किसानों की सुविधा को भी सम्मुख रखा गया होगा क्योंकि सिक्ख श्रद्धालुओं में अधिकांश वही थे और वैसाख में फसलों को काटने के दिन होने के कारण वे अत्यंत व्यस्त होते होंगे।"[1]

गुरु नानक देव का जन्म स्थान तलवंडी राय भोय माना जाता है। आजकल यह स्थान ननकाना साहिब के नाम से विख्यात है। गुरु नानक देव जी के जन्म को लेकर विद्वानों द्वारा अनेक मत प्रस्तुत किए गए हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मानना है कि गुरु नानक देव का जन्म सन् 1526 कार्तिक की पूर्णिमा के दिन तलवंडी गाँव जिला लाहौर में हुआ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उनका जन्म सं. 1526 (सन् 1469 ई.) की अक्षय तृतीया को पंजाब के राईभोई के तलवंडी नामक ग्राम में हुआ माना है। डॉ. करतार सिंह के अनुसार वैसाख सुदी 3 सं. 1526 वि. को गुरु नानक देव का जन्म हुआ। पुरातन जन्मसाखी के अनुसार वैसाख सुदी 3 सं. 1526 वि. को इनका जन्म हुआ।

ऐसा माना जाता है कि गुरु नानक प्रतिदिन बेई नदी में स्नान करने जाया करते थे। एक दिन नदी में स्नान करने गए और तीन दिन तक नहीं लौटे अदृश्य हो गए। लोगों ने यह मान लिया कि गुरु जी नदी में डूब गए पर तभी सुल्तानपुर नगर के बाहर गुरु नानक देव ये शब्द उच्चारते हुए नज़र आए कि— 'न को हिंदू न को मुसलमान' और 'आदि सचु जुगादि सचु है भी सचु नानक होसी भी सचु'[2]

गुरु नानक देव जी ने देश-विदेश में लगभग 18 वर्षों तक यात्रा की। उनकी इन भ्रमण-यात्राओं को चार प्रसिद्ध उदासियों के रूप में विभाजित किया गया है।

अंतिम समय में गुरु नानक देव जी ने अपने परम शिष्य भाई लहना को गुरु गद्दी का उत्तराधिकारी नियुक्त किया। 22 सितंबर 1539 ई. को गुरु नानक देव सच्चखंड वासी हुए।[3]

गुरु नानक देव की समस्त प्रामाणिक वाणी 'गुरु ग्रंथ साहिब में संकलित है। इनकी समस्त वाणी को चार भागों में बाँटा जा सकता है—

1. लंबी वाणियाँ[4] : इनकी लंबी वाणियों में जपुजी साहिब, सिद्ध गोसटि, ओंकार, पट्टी बारामाहा आदि का नाम उल्लेख है।

(क) जपुजी साहिब : यह वाणी गुरु नानक देव की उत्कृष्ट रचना है। यह रचना बहुत ही प्रसिद्ध एवं प्रेरणापूर्ण है।

(ख) सिद्ध-गोष्ठि सिद्ध गोसटि : यह रचना गुरु नानक की महत्वपूर्ण वाणियों में से ही है जिसका शाब्दिक अर्थ है सिद्धों के साथ वार्तालाप। इसमें गुरु नानक देव जी ने कहा है आध्यात्मिक जीवन की कसौटी गृहस्थ होकर माया का त्याग करना है।

(ग) ओंकार : यह वाणी 54 पद की है। इसमें परमात्मा से मिलने के साधन, सांसारिक कार्यों में फँसे हुए जीव की अवस्था तथा गुरु के महत्व को उजागर किया गया है।

(घ) बारामाहा : इस कृति की विलक्षणता प्रकृति-चित्रण में है।

2. शीर्षक युक्त छोटे आकार की वाणियाँ[5] : गुरु नानक देव ने ऐसी वाणियों की रचना भी की है जो आकार में छोटी है लेकिन उनकी रचना शीर्षक के अंतर्गत की गई है। इन वाणियों में 'पहरे', 'सोदरु', अलाहणियां, आरती, कुचजी और सुचजी विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं।

'पहरे' नामक वाणी में पदों की संख्या नौ है। इसमें मनुष्य जीवन के बाल्यावस्था, यौवनावस्था और वृद्धावस्था का मर्मस्पर्शी चित्रण है। सोदरु नामक वाणी में बाईस पंक्तियाँ हैं। इस वाणी में परमात्मा के दिव्य दर अर्थात् स्थान की कल्पना कर उसे सर्वत्र विद्यमान बताया गया है।

अलाहणियां नामक वाणी का वर्ण्य विषय वैराग्य है। 'कुचजी' रचना में जीवात्मा रूपी स्त्री को भौतिक सुखों में मग्न दिखाया गया है। सुचजी में जीवात्मा के परमात्मा के प्रति अनुरक्त भाव को दर्शाया गया है। 'आरती' रचना में गुरु नानक देव ने परमात्मा की सहज आरती का रूप सामने रखा है।

3. 'वार' नामक वाणियाँ[6] : गुरु नानक देव ने तीन वारों की रचना की। इनके नाम है वार माझ, वार आसा, और वार मलार।

माझ की वार : इसमें तत्कालीन धार्मिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का चित्रण है।

आसा की वार : इसमें जहाँ तत्कालीन परिस्थितियों का वर्णन है वहीं परमात्मा के साथ ही नैतिक मूल्यों की स्थापना पर बल है।

मलार की वार : इसमें बहुदेववाद एवं अवतारवाद का खंडन करते हुए प्रभु प्राप्ति के लिए गुरु के महत्व का वर्णन है।

4. श्लोक, पदे, छंत आदि फुटकर छंद[10] : गुरु नानक देव के श्लोकों को प्रभु यशोगान, सामाजिक रीति-रिवाज, नैतिकता, भक्ति-भावना, पाँच भागों में बाँटा गया है। गुरु नानक देव जी ने एकपदा, द्विपदे, ति-पद और पद के रूप में वाणी की रचना की है।

अष्टपदियाँ : गुरु नानक ने 102 अष्टपदियों की रचना की है। इसमें प्रभु नाम एवं गुरु के महत्व का निरूपण है। छंत: गुरु नानक ने 24 छंतों की रचना की है, इन छंतों में जीवात्मा रूपी नायिका की विरहानुभूति, संयोग की अभिलाषा, प्रिय की प्रतीक्षा तथा संयोग सुख के भावों को व्यक्त किया गया गया है। इसमें गुरु कवि की भक्ति-भावना एवं रस्यानुभूति दर्शनीय हैं।

गुरु नानक देव जी बहुमुखी प्रतिभा संपन्न, विलक्षण एवं आकर्षक व्यक्तित्व के स्वामी थे। उन्हें पंजाबी और हिंदी भाषाओं के साथ-साथ संस्कृत तथा फारसी का भी ज्ञान था। उनका स्वभाव

विनम्रता से परिपूर्ण था। वह साहसी एवं निर्भीक लोकनायक थे। वह निर्भीकता के साथ साधारण जन को सत्य का मार्ग अपनाने का उपदेश दिया करते थे—

"सच की वाणी नानकु आखै।
सचु सुणाइसी सचु की बेला॥"[11]

गुरु नानक देव आदर्श गृहस्थ थे इसीलिए उन्होंने गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए प्रभु प्राप्ति का संदेश दिया। गुरु नानक देव ऐसे महापुरुष थे जिन्होंने नारी की प्रशंसा में कहा कि स्त्री जो राजाओं और महापुरुषों को जन्म देती है उसकी हम निंदा क्यों करते हैं। उन्होंने कहा—

'सो किउ मंदा आखीए जितु जमहि राजानु।'
(गुरु गंथ साहब, रागु आसा-वार)

गुरु नानक देव जी ने चार लंबी यात्राएँ (उदासियाँ) की और इन उदासियों के दौरान लोगों को जागृत करने का प्रयास किया। गुरु नानक देव जी कवि होने के साथ-साथ महान संगीतज्ञ भी थे। उन्होंने अपनी वाणी की रचना रागों में की है। गुरु नानक देव जी महान देशभक्त थे। उन्होंने अपनी वाणी में जन-साधारण के दु:खों को अभिव्यक्ति दी और वह तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था के प्रति पूर्ण रूप से जागरूक थे। गुरु नानक देव महान मानवतावादी गुणों से परिपूर्ण थे। उन्होंने 'न को हिंदू न को मुसलमान' का संदेश दिया। विश्व भ्रातृभाव जगाने के लिए 'संगत' और 'सहभोज' की प्रथा का आरंभ किया। गुरु नानक देव जी मौलिक विचारक थे और नए धर्म के संस्थापक भी थे। गुरु नानक देव जी ने जिस गुरु परंपरा का, संगत एव लंगर प्रथाओं का आरंभ किया वही आगे चलकर एक नए धर्म के रूप में उभर कर सामने आया।[12]

गुरु नानक देव ने ईश्वर की निर्गुण और निराकार रूप में उपासना की। वह ईश्वर को एक एवं सत्य मानते हैं। उनका मानना है कि ईश्वर अजन्मा है। वह संसार के कण-कण में समाया है। उसे बाहर जाकर खोजने की आवश्यकता नहीं है। इस सृष्टि का कर्ता वही ईश्वर है। परमात्मा निर्भय है, उसे किसी से वैर नहीं है। वह जन्म और मृत्यु से परे है। परमात्मा ऐसा सत्य है, जो सृष्टि रचना के पूर्व भी था, अब भी है और सृष्टि-प्रलय के बाद भी रहेगा। गुरु नानक देव जी के ऐसे परमात्मा के विषय में विचार निम्नलिखित पंक्तियों में द्रष्टव्य हैं—

"एक ओंकार, सतिनामु करता पुरख
निरभउ, निरवैर, अकाल मुरति,
अजूनी सैभं, गुरु प्रसादि॥
आदि सच जुगादि सच।
है भी सच नानक होसी भी सच।"[13]

गुरु नानक देव जी ने अपनी वाणी में गुरु को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। गुरु की कृपा से ही परमात्मा की प्राप्ति होती है। गुरु की शिक्षाएँ परमात्मा तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त करती हैं।

अज्ञानता रूपी अंधकार से गुरु का ज्ञान रूपी प्रकाश ही निकाल सकता है। मनुष्य के मस्तिष्क में जो परम तत्व से संबंधित माणिक-हीरे-मोती हैं वे गुरु की शिक्षा से ही पहचान में आ जाते है। गुरु नानक देव जी के अनुसार–

"मति विचि रतन जवाहर माणिक जे इक गुरु की सिख सुणी।"[14]

गुरु नानक देव जी ने कहा है कि परमात्मा की प्राप्ति के लिए परमात्मा के 'हुकम' के अनुसार चलना अनिवार्य है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि समस्त सृष्टि परमात्मा के 'हुकम' का पालन करती है। 'हुकम' के साथ चलने वाले जीवों का अहंकार नष्ट हो जाता है और शीघ्र ही वे सत्य रूपी परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं। समस्त सृष्टि परमात्मा के 'हुकम' के अनुसार चलती है। सृष्टि का एक पत्ता भी परमात्मा के 'हुकम' के बिना नहीं हिलता है। ईश्वर की इच्छा से ही मनुष्य सुख-दु:ख भोगता है। परमात्मा के 'हुकम' से ही शरीर की रचना होती है, प्राणियों का जन्म होता है और उसकी आज्ञा से ही मनुष्य यश पाता है, शोभा प्राप्त करता है। गुरु नानक देव जी का मानना है–

"हुकमी होवनि आकार, हुकमु न कहिआ जाईं
हुकमी होवनि जीअ, हुकमि मिले वडिआईं
हुकमै अंदरि सभु को, बाहरि हुकम न कोईं
नानक हुकमै जे बुझै, त हउमै कहै न कोइ॥"[15]

गुरु नानक देव जी ने अपने वाणी में जाति-पाँति के भेदभाव का विरोध किया है। उनके अनुसार परमात्मा की दृष्टि में सभी मनुष्य समान हैं। सभी मनुष्य परमात्मा की ही रचना है। गुरु नानक देव ने भारतीय समाज में नवीन चेतना का प्रचार-प्रसार किया। उन्होंने जाति-पाँति के भेदभाव की तीव्र आलोचना की। उनका मानना था कि सभी जीवों में उसी परमात्मा की ज्योति विद्‌यमान है। उनके शब्दों में–

"जाणहु जोति न पुछहू जाती।
आगे जाति न हे॥१॥ रहाउ॥" - रागु आसा

गुरु नानक देव ने अपनी वाणी में रूढ़ियों एवं आडंबरों का विरोध किया है। वह तीर्थ-यात्रा, व्रत-तप, मूर्ति-पूजा आदि आडंबरों को भी नकारते हैं। उन्होंने समाज में पायी जाने वाली कुरीतियों की कड़ी निंदा की है। मूर्ति पूजा का विरोध करते हुए गुरु नानक देव कहते हैं–

"थापिआ न जाइ कीता न होइ
अपने आप निरंजन सोइ।"[16]

गुरु नानक देव जी ने परमात्मा की प्राप्ति के लिए नाम स्मरण, भजन, परमात्मा के गुणों के गायन को आवश्यक माना है। परमात्मा के गुणों का जाप मन ही मन करना चाहिए। परमात्मा के गुणों को गाएं, सुनें और मन में उसके प्रति प्रेम को स्थिर करें। ऐसा करने से मनुष्य दु:खों का त्याग कर सुख को प्राप्त करता है।

"अंमित वेला सचु नाउ वडिआई वीचारु।
गावीऐ सुणीऐ मनि रखीऐ भाउ।
दुखु परहरि सुखु धरि लै जाइ॥"[17]

गुरु नानक देव कर्म-सिद्धांत को मानने वाले थे। उन्होंने अपनी वाणी में कर्म-सिद्धांत का वर्णन किया है। मनुष्य जो कर्म करता है उसका फल उसे अवश्य भोगना पड़ता है। कर्म सिद्धांत के अनुसार मनुष्य को अपने किए कर्मों का फल अवश्य प्राप्त होता है। उसके कर्मों के अनुसार ही शुभ-अशुभ संस्कार बनते हैं। उसके संस्कारों के अनुसार ही उसे जन्म-मरण के चक्र में डाल दिया जाता है। गुरु नानक देव के अनुसार—

"आपे बीजि, आपे ही खाहु।
नानक हुकमी आवहु जाहु॥"[18]

गुरु नानक देव अपनी वाणी में बताते हैं कि माया मनुष्य और परमात्मा के बीच की दीवार है। माया मनुष्य की सबसे बड़ी दुश्मन है इसने इस संसार को उलझा रखा है। माया के कारण ही परमात्मा कभी निकट कभी दूर दिखाई देता है। माया ने मनुष्य को मोह में डाल रखा है। माया मन में अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न करती है। दूसरा माया इस संसार में निवास करती है। काम, क्रोध, अहंकार एवं विनाश का कारण है। माया ने इस संसार को उलझा रखा है—

"माइआ मोहु सरब जंजाला। मनमुख कुचील कुछित बिकराला।
दूजी माइआ जगत चितु वासु। काम, क्रोध, अंहकार बिनासु॥"
(नानक-वाणी- पृ. 222-4-6)

गुरु नानक देव जी ने अपनी वाणी में जो निरुपित किया है। उसका मूलाधार उनकी स्वानुभूति है। गुरु नानक देव ने अपनी भाव-भक्ति में कीर्तन, श्रवण तथा मनन पर अधिक बल दिया है। गुरु नानक ने जपु जी साहिब नामक रचना में इन तीनों में से भी पहले कीर्तन को स्थान दिया है और फिर श्रवण और मनन को आवश्यक माना है। परंतु परमात्मा का गुणगान हर कोई नहीं कर पाता। ऐसा करने में वही समर्थ होते हैं, जो उसे भाते हैं—

"सेई तुधुनो गावहि जो तुधु भावनि। रते तेरे भगत रसाले।
होरि केते गावनि, से मैं चिति न आवनि। नानकु किआ विचारे॥"[19]

गुरु नानक देव जी का मानना है कि परमात्मा हमारे किए हुए कर्मों के अनुरूप ही संसार में आने का अवसर देता है। हमें किसी को अच्छा या बुरा कहने का अधिकार नहीं है क्योंकि सभी परमात्मा की बनाई रचना है और उसके हुकुम के अनुसार ही कार्य करते हैं और परम तत्व से विवाद का अर्थ है स्वयं को नष्ट करना। कर्म के अनुसार ही मनुष्य शरीर ग्रहण करता है। मुक्ति भी परमात्मा की दया से ही प्राप्त होती है। वास्तव में सब कर्ता-धर्ता वही परमात्मा ही है—

"करमी आवै कपड़ा नदरी मोखु दुआरु।
नानक एवै जाणीऐ सभु आपे सचिआरु॥"[20]

सर्वोत्तम कविता में अनुभूति के सत्य और कल्पना का मिश्रण रहता है। गुरु नानक देव काव्य आध्यात्मिक काव्य है। इसमें अपने युग की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक स्थितियों को स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। गुरु नानक देव की प्रतिभा विलक्षण एवं बहुमुखी थी। भारतीय आचार्यों ने रस को काव्य की आत्मा माना है। रस की दृष्टि से गुरु नानक की वाणी सर्वोत्तम है। इनकी वाणी में शांत रस, शृंगार रस, करुण रस, वीर रस, रौद्र रस, भयानक रस, हास्य रस, अद्‌भुत रस, वीभत्स रस सभी रसों के उदाहरण मिल जाते है। गुरु नानक काव्य में शांत रस का स्थान सबसे ऊपर है। सांसारिकता से विरक्ति और परमात्मा से एक रूप होने की तीव्र आकांक्षा इनके अनेक शब्दों में मिल जाएगी। इनकी वाणी में शृंगार लौकिक न होकर दिव्य है। शृंगार रस का उदाहरण गुरु नानक काव्य में दृष्टिगत है–

सेज इकेली रवरी दुहेली मरणु भइआ दुखु माए।
हरि बिनु नीद भूख कहु कैसी कापडु तनि न सुखावए।[21]
(रागु तुखारी, बारामाता छंत–६)

गुरु नानक देव ने अपने काव्य में मानवतावादी सशक्त एवं प्रगतिशील विचारों को सुदृढ़ शैली में प्रस्तुत किया है। इनकी शैली सरस, सरल और भावों का अनुगमन करने वाली है तो व्याख्यात्मक और व्यंग्यपूर्ण भी है। जहाँ यह धर्म में फैले पाखंडों और आडंबरों की आलोचना करते हैं वहीं इनकी शैली प्रभावपूर्ण हो जाती है, एक उदाहरण इस प्रकार है–

"सोचै सोचि न होवई जे सोची लख वार।
चुपै चुप न होवई जे लाइ रहा लिव तार।
भुखिआ भुख न उतरी जे बना पुरीआ भार।
सहस सिआणपा लख होहि व इक न चलै नालि॥"[22]

यहाँ गुरु नानक देव ने बड़ी सुंदर शैली में विचार व्यक्त किये हैं कि सोचने मात्र से कोई काम संपन्न नहीं होता, जब तक उसे किया न जाए मौन रहने मात्र से ईश्वर में ध्यान लग जाए ऐसा भी संभव नहीं है। अतृप्त व्यक्ति की तृष्णाएँ कभी भी तृप्त नहीं होती चाहे उसे संसार में कुछ भी मिल जाए।

काव्य में अलंकारों से तात्पर्य साहित्यिक आभूषणों से है। ऐसे अलंकार जिनसे काव्य की शोभा में वृद्‌धि हो। गुरु नानक काव्य में अर्थालंकार और शब्दालंकार दोनों प्रकार के अलंकारों के दृष्टांत परिलक्षित होते हैं– उल्लेख, व्यतिरेक, दृष्टांत, विरोधाभास, विभावना, अनुप्रास, यमक आदि अलंकारों का प्रयोग गुरु नानक वाणी में स्वाभाविक रूप में देखा जा सकता है। अनुप्रास अलंकार का उदाहरण इस प्रकार है–

'हुकमी होवनि आकार, हुकमु न कहिआ जाइ।'[23]

एक अन्य दृष्टांत में उल्लेख अलंकार भी द्रष्टव्य है—

"हुकमी होवनि जीअ हुकमि मिलै वडिआई।
हुकमी उतमु नीचु हुकमि लिखि दुख सुख पाईअहि।
इकता हुकमी बखसीस इकि हुकमी सदा भवाईअहि।
हुकमै अंदरि सभु को बाहरि हुकम न कोइ।
नानक हुकमै जे बुझै त हउमै कहे न कोइ॥"[24]

यहाँ गुरु नानक देव ने परमात्मा की आज्ञा को अनेक संदर्भों में व्यापकता एवं अनेकता के साथ प्रस्तुत किया है। काव्य में प्रतीक विधान का अपना अलग ही स्थान होता है। प्रतीक शब्द का प्रयोग सांकेतिक वस्तु की प्रतीति है। काव्य में प्रतीक शब्द का प्रयोग उस दृश्य वस्तु के लिए किया जाता है, जो अदृश्य विषय का बोध कराती है। गुरु नानक वाणी में परंपरागत, भावात्मक चिंतनपरक योगपरक तथा पौराणिक प्रतीक निरूपित हुए हैं। पौराणिक प्रतीकों में ईश्वर के विभिन्न स्वरूपों का नामोल्लेख हुआ है जैसे— गोविंद, राम, हरि आदि। पर यहाँ राम, गोविंद, हरि से तात्पर्य निर्गुण निराकार परमात्मा से है। गुरु नानक काव्य से परंपरागत प्रतीक का उदाहरण इस प्रकार है—

"आपे बीजि आपे ही खाहु।
नानक हुकमी आवहु जाहु॥"[25]

यहाँ 'बीजि' अर्थात् बोअना कर्मों का प्रतीक है। मनुष्य जैसे कर्म करता है वैसा ही फल पाता है। मनुष्य जैसे बीज बोता है वैसा फल प्राप्त करता है।

काव्य में बिंबों का भी महत्वपूर्ण स्थान होता है। बिंबों का प्रयोग काव्य को सौंदर्य प्रदान करता है। गुरु नानक देव जी ने अपने विचारों के प्रचार के लिए अनेक स्थलों की यात्राएँ की। उन्होंने आध्यात्मिक विषयों का गहन अध्ययन किया। आत्मिक जीवन का अध्ययन-मनन किया और अपने इसी व्यापक अनुभव को अपनी वाणी में प्रस्तुत किया। इनकी इसी व्यापकता ने इनके बिंब-विधान को विशद् बना दिया। इनके काव्य में प्रकृति, समाज, राजनीति, धार्मिक, ऐंद्रिय, दृश्य, ध्वनि, गंध, स्पर्श आदि बिंबों को देखा जा सकता है। गुरु नानक देव ने धार्मिक-जीवन संबंधी बिंबों को अपनी वाणी में निरूपित किया है। एक दृष्टांत इस प्रकार हैं—

"देदा दे लैदे थकि पाहि।
जुगा जुगंतरि खाही खाहि॥"[26]

यहाँ गुरु नानक देव कहते हैं कि परमात्मा देते हुए थकता नहीं है पर मनुष्य लेते हुए थक जाता है। युगों-युगों से परमात्मा, ईश्वर, प्रभु निराकार ब्रह्म मनुष्यों को दे रहा है और हम सब मनुष्य जीव-जंतु संसार के सभी प्राणी उसी का दिया खा रहे हैं।

छंद वह होते हैं जो मनुष्य को आनंद देते है। गुरु नानक काव्य में सोरठा, चौपाई, गीत, उगाहा, दोहा, तितुकी, छप्पय, अष्टपदी, पाउडी सलोक, सबद सलोक सार आदि छंद रूप परिलक्षित होते हैं। चौपाई छंद का उदाहरण गुरु नानक काव्य में देखा जा सकता है—

"मने की गति कही न जाइ। जे को कहे पिछे पछुताईं।
कागदि-कलम न लिखगहारु।
मने का बहि करनि वीचारु।
ऐसा नामु निरंजनु होइ। जे को मनि जाणै मनि कोइ॥"[27]

गुरु नानक देव ने लोकप्रिय काव्य-रूपों को अपने चिंतन मनन को साधारण जन के लिए प्रस्तुत किया। उनके समय में वार, बारामाहा, गोसटि, पट्टी, श्लोक, पद, छंत, थिति, पहरे आदि काव्य-रूप विशेष रूप में प्रसिद्ध थे।[28] इन सबका सुंदर निरूपण गुरु नानक काव्य में दृष्टिगत होता है।

गुरु नानक काव्य संगीतात्मकता से परिपूर्ण हैं। इनके काव्य में सिरी, माझ, गउडी, आसा, गुजरी, सोरठि, तिलंग, रामकली, मारु, बसंत, सारंग तथा प्रभाती आदि राग मिलते हैं।[29] गुरु नानक वाणी से राग 'आसा' का उदाहरण द्रष्टव्य है—

रागु नादु नहीं दूजा भाउ। इतु रगि नाचहु रखिरखि पाउ॥
भउ फेरी होवै मन चीति। बहदिआ उठदिआ नीता नीति॥[30]

(रागु आसा)

किसी भी महापुरुष के संदेश की सार्थकता मुख्य रूप से दो तरह से समक्ष आती है- एक तो उसका संदेश कितना सर्वव्यापक एवं सार्वदेशिक है, दूसरे शताब्दियों के अंतराल के बाद भी वह अपनी कितनी अर्थवत्ता एवं विशिष्टता समेटे हुए है। इस पृष्ठभूमि में गुरु नानक देव का संदेश सार्वजनीन, सर्वव्यापक एवं सार्वदेशिक है, दूसरी ओर इतनी शताब्दियों के अंतराल के बाद भी यह अत्यंत सार्थक, उपयोगी तथा अपनी अलग विशिष्टता लिए हुए है। कई बार तो ऐसा भी महसूस होता है कि आधुनिक परिवेश में गुरु नानक देव के संदेश की सार्थकता न केवल स्वयं सिद्ध है, बल्कि अधिक मुखरित होकर हमारे सामने आ रही है।

गुरु नानक देव ने सदा इस बात पर बल दिया कि किसी बात को केवल इसलिए न मान लिया जाए कि लंबे समय से लोग उसे मानते आ रहे हैं। उन्होंने प्रत्येक मान्यता को तर्क एवं ज्ञान की कसौटी पर परखने एवं कसने पर बल दिया है उनके जीवन से संबंधित अनेक दृष्टांत और साखियाँ इस बात को प्रमाणित करते हैं।

बचपन में जब उनका यज्ञोपवीत संस्कार होने लगा, जब हरिद्वार में उन्होंने गंगा में खड़े हुए लोगों को सूर्य को जल अर्पित करते देखा, जब गया में पंडों ने उनसे पिंडदान करने को कहा और जब मक्का शरीफ में मौलवियों ने उनसे कहा कि वे खुदा के घर की ओर पैर करके न सोयें— इन सभी

प्रसंगों का उन्होंने तर्क एवं विचार के आधार पर तथ्य को पहचान कर उसे अपनाने के लिए कहा।[31] अपनी रचना में एक स्थान पर उन्होंने कहा-

सुण मुधे हरणाखीए गूढा बैण अपारि।
पहिला वसतु पछाणकै तउ कीजै वापारू॥[32]

'गुरु नानक देव ने जात-पाँत, ऊँच-नीच और धनी-निर्धन के विभेद का कड़ा विरोध किया। उन्होंने कहा कि मनुष्य के अंदर की ज्योति को पहचानो, जाति को क्यों पूछते हो, क्योंकि आगे मरने के बाद जब तुम्हारे संबंध में अंतिम निर्णय होगा तब तुम्हें कोई यह नहीं पूछेगा कि तुम्हारी जाति क्या है—

जाणहु जोति न पूछहू जाती आगे जाति न हे।[33]

गुरु नानक ने इस देश के पतन के कारणों का सम्यक विश्लेषण किया। उन्होंने कहा कि सच बात यह है कि कोई भी देश अपनी अच्छाइयों को खो देने पर पतन की ओर बढ़ता है। मानो ईश्वर स्वयं जिसे नीचे गिराना चाहता है पहले उसकी सारी अच्छाइयों को उससे छीन लेता है—

जिस नो आपि खुआए करता।
खुस लए चंगिआई।[34]

स्त्रियों के संबंध में गुरु नानक देव ने प्रगतिशील और आधुनिक दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा की है। वह युग नारी निंदकों का युग था। बड़े-बड़े संत महात्मा नारी को मानवीय प्रगति की सबसे बड़ी बाधा समझते थे। गुरु नानक देव ने ऐसे लोगों से पूछा— नारी से मनुष्य जन्म लेता है, उसी से उसका विवाह होता है। नारी से ही अन्य लोगों से संबंध जुड़ता है। उसी से संसार का क्रम चलता है। ऐसी स्त्री को बुरा क्यों कहा जाता है जिससे बड़े-बड़े राजा जन्म लेते हैं।[35]

अपने देश पर विदेशियों द्वारा हुए अत्याचारों से विक्षुब्ध होकर ईश्वर के प्रति ऐसी ताड़ना भरी शिकायत गुरु नानक देव के संदेश के आधुनिक सोच और परिवेश के एकदम निकट ले आती है—

खुरासान खसमाना कीआ हिंदुस्तान डराइआ
आपै दोस न देई करता जमु करि मुगल चढाइआ।
एती मार पई कुरलाणै तैं की दरदु न आइआ।[36]

आधुनिक परिवेश में गुरु नानक देव का संदेश उतना ही प्रभावशाली और सार्थक है जितना आज से पाँच शताब्दी पूर्व रहा है।

संदर्भः

1. पदम गुरचरन सिंह, युग-प्रवर्तक गुरु नानक और उनकी वाणी, (अमृतसर : नवचिंतन प्रकाशन, 1990), पृ. 13

2. सुदेश भाटिया, संत कवि नानक : एक अनुशीलन, पटना : अनुपम प्रकाशन 1989, पृ. 11–13

3. वही, पृ. 14

4. पदम गुरचरन सिंह, युग प्रवर्तक गुरु नानक और उनकी वाणी, अमृतसर, नवचिंतन प्रकाशन, 1990, पृ. 17

5. वही, पृ. 20–26

6. सुदेश भाटिया, संत कवि नानक : एक अनुशीलन, पटना : अनुपम प्रकाशन 1989, पृ. 14

7. पदम गुरचरन सिंह, युग–प्रवर्तक गुरु नानक और उनकी वाणी, अमृतसर : नवचिंतन प्रकाशन, 1990, पृ. 58

8. वही, पृ. 62

9. वही, पृ. 63

10. वही, पृ. 64–65

11. जपुजी साहिब तथा शब्द हजारे, अमृतसर : शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी, 2014

12. पदम गुरचरन सिंह, युग प्रवर्तक गुरु नानक और उनकी वाणी, अमृतसर, नवचिंतन प्रकाशन, 1990, पृ. 31–32

13. जपुजी साहिब तथा शब्द हजारे, अमृतसर : शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी, 2014, पृ. 1

14. वही, पृ. 5

15. वही, पृ. 2

16. वही, पृ. 4

17. वही, पृ. 4–5

18. वही, पृ. 13

19. वही, पृ. 21

20. वही, पृ. 4

21. पदम गुरचरन सिंह, युग प्रवर्तक गुरु नानक और उनकी वाणी, अमृतसर : नवचिंतन प्रकाशन, 1990, पृ. 140

22. जपुजी साहिब तथा शब्द हजारे, अमृतसर : शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी, 2014, पृ. 1

23. वही, पृ. 2

24. वही, पृ. 13

25. वही, पृ. 21

26. वही, पृ. 3

27. वही, पृ. 8

28. पदम गुरचरन सिंह, युग-प्रवर्त्तक गुरु नानक और उनकी वाणी, अमृतसर : नवचिंतन 1990, पृ. 163

29. सुदेश भाटिया, संत कवि नानक : एक अतुशीलन, पटना : अनुपम प्रकाशन, 1989, पृ. 299

30. पदम गुरचरन सिंह, युग-प्रवर्त्तक गुरु नानक और उनकी वाणी, अमृतसर : नवचिंतन 1990, पृ. 167

31. महीपसिंह, संत कवि गुरु नानक, दिल्ली : इंद्रप्रस्थ इंटरनेशनल, 2006, पृ. 47

32. वही, पृ. 48

33. वही, पृ. 49

34. वही, पृ. 49

35. वही, पृ. 50

36. वही, पृ. 53

❑❑

तेलुगु साहित्य में भक्ति आंदोलन और स्त्री भक्तों की भूमिका

—जगदीश गिरी

भक्ति आंदोलन का उद्गम दक्षिण भारत में हुआ। सुदूर तमिल प्रदेश से उद्भूत वैष्णव भक्ति आंदोलन धीरे-धीरे समूचे दक्षिण भारत में फैलने लगा। दक्षिण भारत में भक्ति-आंदोलन की जो लहर चली उससे तेलुगु भाषा भी अछूती न रह सकी। हालाँकि यहाँ भी अति प्राचीन काल से ही शैव भक्ति का प्रचार होता रहा था जिसे वीर शैव धर्म की लोकप्रियता से नई शक्ति प्राप्त हुई। वैष्णव भक्ति का महत्व 11वीं शताब्दी ई. में नन्नैया द्वारा महाभारत का अनुवाद प्रस्तुत किए जाने पर प्रकट हो चुका था।[1] यद्यपि नन्नैया ने केवल दो ही पर्वों का अनुवाद किया, फिर भी इसने दूसरे विद्वानों का ध्यान इस तरफ आकर्षित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन्हीं के समकालीन भीमकवि ने 'राघव पांडवीयम्' की रचना की। उन्होंने अपूर्व कौशल का प्रदर्शन करते हुए इस काव्य के द्वारा एक साथ रामायण और महाभारत दोनों के कथानकों पर प्रकाश डाला। इसके अलावा 'नृसिंह पुराण', 'शतकंध रामायण', 'कविजनाश्रय', 'हरि विलास' तथा 'सुमति शतक' आदि रचनाएँ लिखकर इस परंपरा को आगे बढ़ाया। इस काल में तेलुगु साहित्य में संस्कृत मार्गी और लोकगीतात्मक या देशी दो काव्य शैलियाँ विद्यमान थीं। ऐतिहासिक महाकाव्यों तथा पुराणों को लोकप्रिय बनाने के इस महत्वपूर्ण प्रयास ने भक्ति-आंदोलन के लिए अनुकूल वातावरण पैदा किया। आंध्र के जन-जीवन को नैतिक, भक्तिपरक एवं दार्शनिक आधार प्रदान करने में पुराणों के तेलुगु अनुवाद सहायक सिद्ध हुए।[2]

तेलुगु भाषी प्रदेश के निकटवर्ती कन्नड़ प्रदेश में इसी काल में सामाजिक, धार्मिक विद्रूपताओं के विरुद्ध अल्लम प्रभु और बसवेश्वर द्वारा 'वीर शैव संप्रदाय' की स्थापना की जा चुकी थी। इसने प्राचीन शैव मत को एक बार संपूर्ण दक्षिणावर्त में पुनः उभरने का अवसर प्रदान किया। इसके प्रभावस्वरूप तेलुगु में भी देशी शैली के अनेक कवियों ने संस्कृताधारित वैष्णव भक्ति-साहित्य की बजाय वीर शैव मत को अपनाया तथा इसका प्रचार किया। इन कवियों में मल्लिकार्जुन तथा पालकुरिक सोमनाथ बड़े प्रसिद्ध हुए हैं। बौद्ध धर्मावलंबी राजा द्वारा मल्लिकार्जुन की आँख निकलवाने तथा शिव की कृपा से पुनः आँख प्राप्त हो जाने की घटना से तत्कालीन समय में शैवों एवं

बौद्धों का आपसी वैमनस्य और शिव की भक्ति से भौतिक बंधनों एवं सांसारिक कष्टों का दूर होना सिद्ध होता है। मल्लिकार्जुन ने 500 पदों वाला 'शिवतत्व सार' प्रस्तुत किया, जो शैव भक्ति की अप्रमेय महिमा प्रस्तुत करता है।

इस कड़ी में 13वीं शती के पालकुरिक सोमनाथन वीर शैव सिद्धांतों के प्रचार में सबसे अधिक सफल हुए हैं। 'पंडिताराध्य चरित', 'द्विपाद बसव पुराण', 'अनुभाव सार' तथा 'वृषाधिप शतक' उनकी मुख्य रचनाएँ हैं।[3] अपने और शिव के बीच में नायिका और नायक का संबंध स्थापित करके उन्होंने माधुर्य भक्ति का उद्घाटन किया। स्वयं को नायिका मानकर किसी भक्त द्वारा भगवान की कृपायाचना करने का यह उदाहरण नायनार शैव भक्तों के प्रभाव को ही सिद्ध करता है। क्योंकि कुछ नायनार कवियों में इस तरह की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। सोमनाथ ने वीर शैव मत को वैदिक धर्म के अनुकूल सिद्ध करने का भी प्रयास किया है। इन्हें वीर शैवमत का ज्ञानपीठ कहा जाता है। ठेठ तेलुगु में भावुकतापूर्ण रचनाएँ प्रस्तुत करके वीर शैव कवियों ने असाधारण लोकप्रियता प्राप्त की है।[4] 13वीं शती में वैष्णव धर्म को लोकप्रिय बनाने में कवित्रय–नन्नैया, तिकन्ना और पराप्रेग्गडा–को अपूर्व सफलता मिली। तिकन्ना ने रामायण, वनपर्वोत्तर महाभारत, कृष्ण शतक आदि की रचना करके तेलुगु की संस्कृत शैली को अत्यधिक संपन्न कर दिया। तिकन्ना ने अपने अनुवादों में पर्याप्त स्वतंत्रता दिखाई। भक्तों को ऐतिहासिक महाकाव्यों तथा पुराणों से अवगत कराने का उनका प्रयास सचमुच सराहनीय सिद्ध हुआ है। नन्नैया के अधूरे छोड़े गए महाभारत वन पर्व के शेष भाग का अनुवाद 13वीं शती ई. में पराप्रेग्गडा ने किया। इन्होंने 'रामायण', 'हरिवंश पुराण' और 'नृसिंह पुराण' की भी रचना तेलुगु में की।

इसके पश्चात भी तेलुगु में रामायण व महाभारत पर आधारित भक्ति परक ग्रंथ 13–14वीं शताब्दी में लिखे जाते रहे। कोना बुद्धराज की 'रंगनाथ रामायण' केतना कृत 'दशकुमार चरित' तथा श्रीनाथ कवि कृत 'शालिवाहन सप्तशती', पंडिताराध्य चरित 'शिवरात्रि माहात्म्य' जैसी कृतियाँ भक्ति पद्धति एवं विचारों को निरंतर विकसित करती रहीं। पुराणों के अनुवाद के इस युग में बौद्ध, जैन, वैदिक वैष्णव और वीर शैव संप्रदाय विशेष महत्व के थे। तत्कालीन साहित्य ने इन संप्रदायों के प्रचार कार्यों में महत्वपूर्ण योग दिया और इस प्रकार भक्ति–आंदोलन का गौरव बढ़ाया।[5]

15वीं शताब्दी अन्य भारतीय भाषाओं की भाँति तेलुगु के लिए भी स्वर्ण युग के समान है। भक्ति–आंदोलन जो 15वीं शताब्दी तक आते–आते अपने उत्कर्ष को प्राप्त करता है तेलुगु में भी पोतन्ना, अन्नमाचार्य और वेमना जैसे भक्त कवियों का आश्रय पाकर जगमगा उठा। पोतन्ना (1420–1510 ई.) ने 'आंध्र महाभागवत', 'वीरभद्रविजय', 'भोगिनीदंडक' और 'नारायण शतक' जैसी उत्कृष्ट कृतियों की रचना की। भागवत पुराण को काव्यरूप प्रदान करने में पोतन्ना ने अद्भुत एवं अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया है।[6]

शरणागति और कीर्तन जो जन–जन को भक्ति–आंदोलन से जोड़ने मे बड़े महत्वपूर्ण रहे हैं; तेलुगु में इसके सबसे बड़े प्रचारक ताल्लपाक अन्नमाचार्य हुए। विशिष्टाद्वैत दर्शन से प्रभावित

अन्नमाचार्य ने संस्कृत एवं तेलुगु में कुल 3260 कीर्तनों की रचना की। निश्चय ही परवर्ती काल में चैतन्य और मीरा जैसे भक्तों ने कीर्तन करते हुए अपने इष्ट के स्वरूप में ही खो जाने की जो पद्धति चलाई, उससे पूर्व अन्नमाचार्य इसे प्रसिद्ध बना चुके थे। वह सूरदास की भाँति नित्य प्रति कीर्तन रचकर अपने इष्ट की उपासना में गाया करते थे।[7] उन्होंने तिरूपति के वैंकटेश्वर को ही अपना इष्ट माना तथा उसे भक्तों के अन्य प्रमुख आराध्यों विष्णु, शिव आदि से समन्वित कर दिया। इनके लिए निर्गुण-सगुण में कोई भेद नहीं था। कीर्तन साहित्य के अलावा अन्नमाचार्य ने 'द्विपद'-रामायण 'वेंकटाचल माहात्म्य' आदि ग्रंथों की रचना की।

इसी काल में वेमना ने लगभग 200 पदों की रचना करके समाज-सुधार, बाह्याडंबरों का निषेध, अंधविश्वासों का खंडन करने तथा शुद्ध रूप से आडंबर रहित भक्ति-भावना को बढ़ावा देने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। वेमना भी कबीर की भाँति अनुभवैकगम्य ज्ञान से युक्त थे। औपचारिक शिक्षा अथवा शास्त्र-ज्ञान उन्होंने प्राप्त नहीं किया था आत्म-शुद्धि प्राप्त करने का जो संदेश उन्होंने सुनाया, वह आज भी आंध्र के सांस्कृतिक जगत में गूँजता है। उनकी धर्म प्रचार यात्राओं ने भक्ति-आंदोलन का प्रभाव अवश्य बढ़ाया था। परवर्ती तेलुगु साहित्यकारों ने भक्ति-परक पदों के रचयिता अन्नमाचार्य और वेमना से अनंत प्रेरणा प्राप्त की हैं।[8]

पंद्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विजयनगर के महाराजा कृष्णदेवराय (1487 से 1530 ई.) ने अनेक कवियों को आश्रय दिया और स्वयं भी अच्छे कवि थे हालांकि इस युग के कवियों ने दरबार में रहकर काव्य रचना की, फिर भी भक्तिपरक ग्रंथों का प्रणयन अधिक हुआ, जो निश्चय ही तत्कालीन समाज में भक्ति-आंदोलन के बढ़े हुए प्रभाव का द्योतक है। इनके समय में वैष्णव एवं शैव भक्तिपरक प्रबंध काव्यों का सृजन हुआ। स्वयं कृष्णदेवराय ने 'विष्णुचिन्तय्या' नामक काव्य में पेरियालवार और उनके आराध्य रंगनाथ के प्रति आंडाल के अनन्य प्रेम का चित्रण कर वैष्णव भक्ति को प्रचारित किया। इनकी राजसभा में रहने वाले कवि धूर्जटी ने 'काल हरितमाहात्म्य' काव्य लिखकर शिव महिमा का गान किया। 'कालहस्तीश्वर शतक' में उनकी वैराग्य भावना और दास्य भक्ति का सुंदर चित्रण हुआ है।[9] अन्नमाचार्य की भाँति भगवान वैंकटेश्वर की भक्त 'तरिगोंडा वेणकमाम्बा' ने माधुर्य भक्ति की अलख जगाई। हिंदी कवयित्री मीरा की भाँति इन्होंने भी इष्ट देवता वैंकटेश्वर को ही पति मानकर अपना जीवन-कुसुम उन्हीं को अर्पित कर दिया। 'वेंकटाचल माहात्म्य' तथा 'राजयोग सार' उनकी रचनाएँ हैं।

तेलुगु में 17वीं शताब्दी में भी राम और कृष्ण भक्तों की परंपरा चलती रही। इस काल के भक्तों में रामदास ने 'दाशरथी शतक' की रचना कर राम भक्ति को अपनाया। उन्होंने एक मंदिर बनवाकर राम, लक्ष्मण और सीता की मूर्तियाँ स्थापित कीं। तत्कालीन सुल्तान ने इन्हें जेल में डाल दिया, किंतु रामदास ने अत्यंत भावपूर्ण पद गाकर श्रीराम की प्रार्थना की। इस पर राम-लक्ष्मण के द्वारा उनको छुड़ाए जाने की भी कथा मिलती है।[10] यह घटना तेलुगु में राम भक्ति के बढ़ते प्रचार और इस्लामिक शासकों द्वारा उसे कुचलने के प्रयासों की द्योतक है। इसी काल में त्यागराज ने भी

राम भक्ति को अपना संबल बनाया। उन्होंने कर्नाटक संगीत को भक्ति-आंदोलन से समन्वित करके इसे रंजनकारी रूप प्रदान किया। 'नौका चरित्र' और 'प्रहलाद विजय' इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। नारायण तीर्थ ने 'कृष्ण लीला तरंगिणी' की रचना की। योगी सिद्धेन्द्र ने 'पारिजात हरण' नामक कृष्ण भक्ति प्रधान ग्रंथ की रचना की। वेदांत तत्वों की व्याख्या करने वाला ग्रंथ-'गोल्लकलाम' भी उनकी रचना है। वे सख्य भक्ति के समर्थक थे और नाट्य प्रधान रचनाएँ प्रस्तुत करके उन्होंने भक्ति-आंदोलन की लोकप्रियता में वृद्धि की। क्षेत्रय्या माधुर्य भक्ति के समर्थक थे। अपने को नायिका और गोपाल को नायक मानकर उन्होंने शृंगारिक पदों की रचना करके भक्ति के विकास में अपूर्व देन उपस्थित की।[11]

तेलुगु भक्त कवयित्रियाँ:

तमिल एवं कन्नड़ की भाँति तेलुगु में भी अनेक नारी-भक्त हुई हैं जिन्होंने भक्ति-आंदोलन के विकास तथा उसे नवीन दृष्टि से युक्त बनाने में अपना योगदान दिया। दरअसल यहाँ नारी-भक्त कवयित्रियों की रचनाएँ बहुत कम परिमाण में उपलब्ध हुई हैं, इसी कारण इस प्रदेश में भक्ति-आंदोलन के प्रमुख संतों व भक्तों में इन नारियों का उल्लेख साहित्य मर्मज्ञों ने तो किया ही नहीं है, और यदि किसी ने नामोल्लेख भर कर दिया है तो उससे इनके महत्व को रेखांकित नहीं किया जा सका है। लेकिन तमाम विरोधों, बंदिशों और रुढ़ियों के बावजूद इन नारी-भक्तों द्वारा अपनी वाणी को शब्द देना और अनेकश: पुरुष रचनाकारों के समकक्ष खड़े होना भी कम महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। अपने युग को ललकारने वाली इन भक्त कवयित्रियों को जानना स्वयं में एक रोमांचकारी अनुभव है।

ताल्लपाक तिम्मक्का—यह प्रसिद्ध भक्त एवं कीर्तनाचार्य ताल्लपाक अनमाचार्य की पत्नी थीं। इनके समय व जीवन वृत संबंधी अधिक विवरण उपलब्ध नहीं है, परंतु इतना तय है कि यह 15वीं शताब्दी में वर्तमान थीं। अन्नमाचार्य संस्कृत व तेलुगु के प्रकांड पंडित एवं संगीत के आचार्य थे। दोनों भाषाओं में उन्होंने कुल 3260 कीर्तनों की रचना की थी।[12]

तिम्मका पर भी इनकी काव्यशैली और भक्तिभावना का काफी प्रभाव पड़ा। डॉ. के. रामनाथन् के अनुसार यह जाति से ब्राह्मण थीं और इनके इष्टदेव श्रीबालाजी एवं पद्मावती थे। इन पर श्री संप्रदाय का भी प्रभाव उन्होंने बताया है।[13] तिम्मका की एकमात्र उपलब्ध काव्यकृति 'सुंभद्रा कल्याणमु' है, जिसमें सुभद्रा व अर्जुन की विवाह-कथा वर्णित है। इस आधार पर इसे तेलुगु की सर्वप्रथम कवयित्री भी माना जा सकता है। तिम्मका का यह काव्य द्विपदी छंद में संपन्न हुआ है और इसमें कुल 1163 पद हैं। यह रचना एक तो नारी की कोमल भावनाओं तथा दूसरे, द्विपदी जैसे देशी छंद के प्रयोग से निखर उठी है। अत्यंत रसपूर्ण भावनाओं के कारण स्त्रियाँ विवाह के समय इनके पदों का समवेत स्वर में गायन भी करती हैं।

आतुकूरि मोल्ला—यह 16वीं शताब्दी के पूर्वाद्र्ध में आंध्र कवयित्री थी।[14] ये कुम्हार जाति की थीं और इनके पिता का नाम आतुकूरि केसनसेटिट् था। माना जाता है कि यह नेल्लूर जिला

अंतर्गत गोपवरमु ग्राम की निवासिनी थीं। श्रीमती ऊटुकुरि लक्ष्मीकान्तम्मा ने अनुमान किया है कि यह विधवा थीं, क्योंकि इन्होंने कहीं भी अपने पति का उल्लेख नहीं किया है।[15]

तेलुगु में रामकाव्य प्रणेताओं में इस विदुषी का विशिष्ट स्थान है। 'मोल्लरामायणमु' इनकी एकमात्र उत्कृष्ट रचना है। राजाकृष्णदेवराय की समकालीन होने के बावजूद इन्होंने उनका राजाश्रय स्वीकार नहीं किया, जबकि उस युग के सभी विद्वान उनके दरबार की शोभा बढ़ाते थे। यह मोल्ला की अनन्य भक्ति और निष्ठा का प्रमाण है। कृष्णदेवराय के दरबारी कवि तेनालिरामकृष्ण के साथ इनके परिचय और परिचर्चा को लेकर अनेक कहानियाँ लोकमानस में विद्यमान हैं। इनकी रचना 'मोल्लरामायणमु' का आंध्र की जनता में बहुत प्रचार है। प्रसिद्ध है कि भगवान राम की प्रेरणा पाकर इन्होंने इस कृति का प्रणयन किया था।

इस काव्य में उत्तर रामायण की कथा का उल्लेख नहीं है। कहा जाता है कि ये राम की अनन्य भक्त होने के कारण सीता और राम के वियोग की कथा को प्रस्तुत नहीं कर सकी थीं, क्योंकि अपने प्रियजनों का यह दुस्सह वियोग वे कदापि सहन नहीं कर सकती थीं। यद्यपि 'मोल्ल के पूर्व ही तेलुगु साहित्य में 'रंगनाथ रामायण', 'भास्कर रामायण' आदि प्रसिद्ध राम-काव्यों की रचना हो चुकी थी, फिर भी इन्होंने पुनः रामायण की रचना क्यों की? इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए वह कहती हैं—'भक्ति एवं मुक्ति-प्रदाता भगवान श्रीरामचन्द्र जी की स्तुति कितने ही बार क्यों न की जाय, इसमें दोष क्या है?'[16] इसी ग्रंथ में उन्होंने एक अन्य स्थान पर प्राकृत जनों के गुणगान की बजाय श्रीराम के गुणगान को ही तुलसीदास जी की भाँति श्रेयस्कर बताया है—'श्रीरामचन्द्र जी जैसे मानवपालक की स्तुति के लिए अभ्यस्त, यह जिह्वा क्या फुटकल राजाओं की स्तुति कर सकती है।'

स्पष्ट है कि वह राम की ही अनन्य उपासिका थीं और श्रीरामचन्द्र जी के गुणगान के अलावा सबको व्यर्थ मानकर अपना जीवन उनको ही समर्पित कर चुकी थीं। श्रीराम स्मरण के लिए भी ज्ञान, वेदांत, योगादि की बजाय एकनिष्ठ भक्ति महत्वपूर्ण है— 'महान् विद्वान एवं पंडित ही नहीं, अपितु विद्याविहीन व्यक्ति भी भगवान का गुणगान करते हैं। इन दोनों में भगवान के कृपापात्र वे ही होंगे जिनमें वस्तुतः अनन्य भक्ति है। केवल विद्या, पांडित्य, इत्यादि से क्या भगवान को प्रसन्न किया जा सकता है? (अर्थात् नहीं)'[17]

इस कृति के छह कांडों में कुल मिलाकर लगभग एक हजार छंद हैं। पहले तीन कांडों की अपेक्षा अंतिम तीन कांडों में रचना अधिक प्रौढ़ और परिमार्जित दिखाई देती हैं। सहज वर्णन-शैली, सहज अलंकार योजना, सरल शब्दों का प्रयोग इसकी विशेषताएँ हैं। भाषा और शैली की इस निसर्ग मनोहारिता ने कई परवर्ती कवियों को भी प्रेरणा दी।

रंगाजम्मा—तेलुगु भक्ति-साहित्य को समृद्ध बनाने और नारी-भक्त कवयित्रियों की परंपरा को आगे बढ़ाने में रंगाजम्मा का योगदान भी महत्वपूर्ण है। दुर्भाग्यवश इनके संबंध में अधिकांश विवरण अज्ञात है। माना जाता है कि यह तंजौर के राजा विजयराघव के दरबार में रहती थीं।

इस आधार पर इनका समय 17वीं शती सिद्ध होता है। रंगाजम्मा न केवल राज–कवयित्री थीं बल्कि वह राजा की प्रेमिका भी थीं। रंगाजम्मा की रूप माधुरी और प्रतिभा से मुग्ध होकर राजा ने उनका कनकाभिषेक भी किया था। रंगाजम्मा भी राजा को अपने पति के समान मानती थीं। राज–दरबार में रहने के बावजूद भी इनके भक्तिपरक संस्कार सर्वथा लुप्त नहीं हुए। इसलिए इन्होंने 'भागवत', 'रामायण' और 'महाभारत' पर आधारित काव्य लिखे थे, यद्यपि ये रचनाएँ अभी प्राप्त नहीं हो सकी हैं। इनके अतिरिक्त रंगाजम्मा ने 'मन्नारुदास विलासमु' नामक प्रबंध काव्य तथा 'यज्ञगानमु' की रचना भी की थी। 'उषापरिणयमु' नामक प्रबंध भी इनका लिखा माना जाता है, परंतु इनका संबंध भक्ति से नहीं है। यदि इनकी भक्तिपरक रचनाएँ उपलब्ध हो पातीं, तो निश्चय ही उनकी विचारधारा और निष्ठा का पता चलता। प्राप्त रचनाओं के आधार पर उनके भक्ति–भाव के विषय में अधिक नहीं कहा जा सकता। डॉ. के. ए. नीलकंठ शास्त्री ने लिखा है कि, "रंगाजम्मा ने 'मन्नारुद्रासविलास' लिखकर यक्षगान के विकास में योगदान किया। उसने सामान्य से कहीं अधिक पात्रों का उपयोग किया और संवादों में अक्सर गीत के स्थान में गद्य से काम लिया।"[18]

मुद्दुपलनी—दक्षिणापथ के राजा प्रतापसिंह के दरबार में मुद्दुपलनी नामक कवयित्री रहती थीं। इनके जीवन–वृत संबंधी जानकारी अज्ञात है। प्रतापसिंह के दरबार में रहने के आधार पर इनका समय 18वीं शती माना जा सकता है। इनकी एकमात्र उपलब्ध रचना 'राधिका स्वांतनमु' है। जिसमें राधा, कृष्ण और इला के त्रिकोणात्मक प्रेम संघर्ष और अंत में राधिका की विजय का हृदयग्राही वर्णन है। मुद्दुपलनी को इसी रचना के आधार पर कृष्ण भक्त कवयित्री माना जाता रहा है यद्यपि इसमें भक्ति का पूर्ण परिपाक न होकर शृंगारिक वर्णन अधिक प्रमुखता पा गए हैं। अतः इनके भक्त होने के विषय में थोड़ा संदेह होता है। हो सकता है राज–दरबार में रहकर रीतिकालीन कवियों की भाँति राधा–कृष्ण के बहाने शृंगारिक वर्णन करना ही इनका उद्देश्य रहा हो। काव्य में वर्णित कथा के अनुसार इला का विवाह कृष्ण के साथ राधा अपनी इच्छा से करा देती है। बाद में कृष्ण को इला के प्रति अत्यधिक अनुरक्त पाकर राधा अपने कृत्य पर पछताती हैं। पुनः कृष्ण को अपनी ओर उन्मुख करने हेतु उसे अनेक प्रयास करने पड़ते हैं। इसमें संयोग व वियोग शृंगार का बहुत ही खुला वर्णन है। इसमें भक्ति के तत्व बहुत कम नजर आते हैं। मुद्दुपलनी की रचना में शब्दों की रमणीयता, भावों की कोमलता, और मानवीय भावनाओं का हृदयग्राही वर्णन है।

तरिगोंडा वेंकमांबा—भक्त कवयित्रियों की परंपरा में उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यभाग में तरिगोंडा वेंकमांबा ने अत्यधिक प्रतिष्ठा अर्जित की। यह कानालिकृष्णार्य और मंगमांबा की पुत्री थीं। इनका निवास स्थान कड़पा जिले के वायल्पाडु के निकट तरिकुंडा या तरिगोंडा नामक गाँव था। इसीलिए इनके नाम के साथ तरिगोंडा विशेषण जुड़ गया। यह बाल–विधवा थीं। अतः निरंतर यातना सहते–सहते इनका मन सांसारिक जीवन से विरक्त होने लगा। विपत्ति में सहायक केवल ईश्वर होता है, ऐसा जानकर इन्होंने तिरुपति के श्री वेंकटाचलपति की ओर ध्यान लगाना शुरू कर दिया और उन्हें

ही पति रूप में मानकर उपासना करने लगीं। इधर यातनाओं का दौर भी लगातार बढ़ता जा रहा था। तत्कालीन समाज में बाल-विधवा का जीवन अत्यंत नारकीय था। अंततः यातनाओं से तंग आकर इन्होंने समाज की परंपराओं को तोड़ दिया और तिरुपति के लिए निकल पड़ीं।

गृह त्याग करने के पश्चात् तिरुपति में रहते हुए इन्होंने अपना संपूर्ण जीवन श्री वेंकटाचलपति (बालाजी) को समर्पित कर दिया। यहाँ रहते हुए वह ईश-आराधना में मग्न रहने लगीं और प्रभु के गुणगान कविता रूप में करने लगीं। कहा जाता है कि यह बिल्कुल अनपढ़ थीं, फिर भी कविता करने की शक्ति प्रभु की कृपा से ही प्राप्त हो गई। कबीर की भाँति 'मसि कागद छुयो नहीं, कलम गहि नहीं हाथ' का नारा बुलंद करते हुए इन्होंने करीब पंद्रह रचनाएँ लिखीं। यह भी हो सकता है इन्हें लिपिबद्ध किसी अन्य भक्त ने किया हो।

अंतः साक्ष्य के आधार पर इनकी रचनाओं में 'नरसिंह शतकमु', 'नरसिंह विलास कथा', 'शिवनाटकमु', 'पारिजातापहरण संस्कृति', 'कृष्ण नाटकमु', 'रमापरियणमु', 'चेंचु नाटकमु', 'कृष्णमंजरी', 'श्री रुक्मिणी नाटकमु', 'गोपिका नाटकमु', 'मुक्तिकांता विलास नाटकमु', 'राजयोग सारमु', 'भागवत द्विपदा', 'वेंकटाचलमहात्म्यमु' प्रमुख हैं। परंतु इनमें से केवल अंतिम तीन रचनाएँ ही उपलब्ध हैं, शेष सभी रचनाओं का केवल उल्लेख मात्र मिलता है। अतः इन्हीं तीन रचनाओं को प्रामाणिक मानकर इनकी काव्य-शैली पर विचार किया जा सकता है।

'राजयोगसार' इनकी प्रथम रचना है। इसमें कपिल और देवहूति के अंतर्गत तत्व संबंधी वेदांत-परक संवादों का वर्णन है। यह द्विपद छंद में लिखी गई है तथा इसमें वेदांत की अनेक बातों को सरल और सुगम शैली में प्रतिपादित किया गया है। इस काव्य का 'जीवन्मुक्ति-विचार' शीर्षक द्वितीय प्रकरण अत्यंत सुबोध और ग्रहण करने योग्य है। 'भागवत द्विपद' की शैली अपेक्षाकृत पहले ग्रंथ से अधिक प्रौढ़ एवं परिमार्जित है। इसमें भागवत के द्वादश स्कंध का भावपूर्ण विवेचन किया गया है। 'वेंकटाचल महात्म्यमु' इनकी प्रबंध कृति है, जिसमें कुल सात आश्वास हैं। प्रबंध काव्य की गरिमा के अनुकूल इसमें वर्णन, अलंकारों का बाहुल्य है परंतु औचित्य का भी ध्यान रखा गया है। आश्वास का प्रारंभ संस्कृत के श्लोक से किया गया है। इस काव्य में तिरुपति के क्षेत्र-माहात्म्य तथा पद्मावती और श्रीनिवास के विवाह की कथा वर्णित हैं। इनके अतिरिक्त वेंकमांबा ने तिरुपति में श्रीबालाजी की सन्निधि में रहते हुए अनेक मधुर पदों की रचना भी की है। वास्तव में तत्व प्रतिपादक ग्रंथ, प्रबंध-काव्य, द्विपद-काव्य, नाटक, यज्ञगान आदि विभिन्न विधाओं में इतनी सफलतापूर्णक लिखने वाली यह एकमात्र कवयित्री हैं।

वेंकमांबा आजीवन तिरुपति में ही रहीं और लगभग 80 वर्ष की अवस्था में इनका स्वर्गवास हो गया था। वेंकमांबा के पश्चात् भी अनेक नारियाँ भक्ति-साहित्य प्रस्तुत करती रहीं किंतु वे भक्तिकाल की कालावधि के पश्चात् की हैं। जाहिर है कि सुदूर दक्षिणापथ में भक्ति-आंदोलन को गति देने में तेलुगु नारी-भक्तों ने भी अपना महत्वपूर्ण योग दिया है।

संदर्भः

1. दक्षिण भारत का इतिहास; के. ए. नीलकण्ठ शास्त्री; अनुवाद डॉ. वीरेन्द्र शर्मा, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, 2006, पृ. 395
2. द लिटरेरी हैरीटेज आव द आंध्राज; लक्ष्मीकान्त पिंगली', इलैस्ट्रेटिड वीकली ऑन इंडिया' -4-9-1966, उद्धृत-भक्ति आंदोलन और साहित्य; डॉ. एम. जॉर्ज, प्रगति प्रकाशन, आगरा, 1978, पृ 254
3. भक्ति आंदोलन और साहित्य, डॉ. एम. जॉर्ज, प्रगति प्रकाशन, आगरा, 1978, पृ. 80
4. तेलुगु साहित्य का इतिहास; बालशौरि रेड्डी; हिंदी समिति उत्तर प्रदेश, लखनऊ, 1964, पृ. 68
5. वही, पृ. 86
6. वही, पृ. 111
7. वही, पृ. 119
8. वही, पृ. 119
9. भक्ति आंदोलन और साहित्य, डॉ. एम. जॉर्ज, प्रगति प्रकाशन, आगरा, 1978, पृ. 258
10. तेलुगु साहित्य का इतिहास; बालशौरि रेड्डी; हिंदी समिति उत्तर प्रदेश, लखनऊ, 1964, पृ. 120
11. भक्ति आंदोलन और साहित्य, डॉ. एम. जॉर्ज, प्रगति प्रकाशन, आगरा, 1978, पृ. 259
12. वही, पृ. 257
13. हिंदी और तेलुगु वैष्णव भक्ति-साहित्य (तुलनात्मक अध्ययन), डॉ. के. रामनाथन्, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, 1968, पृ. 65
14. आंध्रकवयित्रुलु-कवित्व लक्षणमु, निबंध, लेखक-रावूरि चिट्टिवेंकट सुब्रह्मण्यमुगारु, 'भारती', सितंबर, 1924, पृ. 28, उद्धृत-वही, पृ. 63
15. आंध्र कवयित्रुलु, पृ. 17, वही, पृ. 63
16. 'मोल्लरामायणमु' पीठिका, पद्य-21, उद्धृत, वही, पृ. 63
17. 'मोल्लरामायणमु' पद्य 23, उद्धृत-वही, पृ. 64
18. दक्षिण भारत का इतिहास, के.ए. नीलकंठ शास्त्री, अनुवाद-डॉ. वीरेन्द्र वर्मा, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, 2006, पृ. 455

❑❑

बहुमुखी प्रतिभा के धनी श्री राधाचरण गोस्वामी

–अम्बिका उपाध्याय

नवजागरण के अग्रदूत बहुमुखी प्रतिभा के धनी वृन्दावन के महान राष्ट्रवादी कर्मयोगी एवं समाज सुधारक कवि की राधारचण गोस्वामी जी ने आजीवन अपने कार्यों व लेखनी द्वारा निःस्वार्थ भाव से समाज व राष्ट्र की सेवा की। गोस्वामी जी राष्ट्रीय काँग्रेस के आजीवन सदस्य रहे। स्वतंत्रता संग्रामों में अहम भूमिका निभाई, इनकी कथनी व करनी में कोई अंतर नहीं था। इसलिए बहुत से स्वतंत्रता सेनानी, लाला लाजपतराय, बाल गंगाधर तिलक, मालवीय जी आदि ने इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। गोस्वामी जी अपने धर्म के साथ-साथ अन्य धर्मों का सम्मान करते थे। वहीं गोस्वामी जी विदेशी भाषा के पुरजोर विरोध में थे और देशी भाषा, हिंदी, ब्रज, संस्कृत के पुरजोर हिमायती थे। लेखन में विशेष रूचि रखने वाले गोस्वामी जी ने स्वयं अपनी आत्मकथा में लिखा है- "मैं लिखते समय किसी अन्य प्रति का सहारा लेना अनावश्यक समझता हूँ।" समर्पण, त्याग, सत्यता व वास्तविकता उनके संपूर्ण जीवन के मूल मंत्र रहे हैं। गोस्वामी जी ने कभी अपने सिद्धांतों से समझौता नहीं किया। इसलिए समाज ने उन्हें कई बार बहिष्कृत किया। इन चीजों का उनके ऊपर कोई भी असर नहीं हुआ क्योंकि वे तो बेसहारों को सहारा देने वाले महान कर्मयोगी थे। गोस्वामी जी के व्यक्तित्व में सहजता, मृदुभाषिता व सरलता का अनोखा संगम था। ऐसे भारतेंदु युग के महान साहित्यकार जिन्होंने गद्य व पद्य की अनेक विधाओं की रचना की। वहीं आत्मकथा, डायरी की शुरुआत गोस्वामी जी ने ही की। समाज, सुधारक, नाटककार, उपन्यासकार, पत्रकार, हिंदी भाषाप्रेमी, कहानीप्रेमी, श्रेष्ठ वक्ता, आदि रूपों में गोस्वामी जी क्षितिज पर विद्यमान हैं।

भारतेंदु हरिश्चन्द ने गौरवमयी इतिहास रचा तथा अपनी अद्भुत प्रतिभा से साहित्य जगत को प्रभावित किया। भारतेंदु हरिचन्द के जीवन काल में ही कवियों का और लेखकों का एक खास मंडल तैयार हो गया था। हिंदी साहित्य के काल में इसे भारतेंदु युग या भारतेंदु मंडल के नाम से जाना जाता है। इस युग के प्रमुख लेखक थे भारतेंदु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिका दत्त, बालकृष्ण भट्ट एवं राधाचरण गोस्वामी। इन्होंने हिंदी साहित्य को समृद्ध बनाया। यही भारतेंदु युग

समकालीन एवं सहयोगीमंडल नवजागरण के नाम से भी जाना जाता है। इस युग के अधिकतर कवि व लेखक भारतेंदु जी की मृत्यु के बाद उसी लगन व रुचि के साथ गद्य व पद्य की दोनों विधाओं में रचना करते रहे। इस युग के एक प्रमुख स्तंभ राधाचरण गोस्वामी जो चहुँमुखी प्रतिभा के धनी थे।

श्री राधाचरण गोस्वामी जी का जन्म 25 फरवरी 1859 को वृन्दावन में माध्वागौड़ीय चैतन्य संप्रदाय में हुआ था। आपके इष्ट स्वयं प्रगट ठाकुर श्री राधारमणदेवजू थे। आपके पिता का नाम गोस्वामी गुल्लु जी महाराज तथा माता का नाम सूर्यादेवी था। आपके पिता ने ही आपका लालन पोषण किया था। ये संत प्रवृत्ति के थे। उन्होंने अपने घर में षडभुज महाप्रभु का दिव्य सुंदर आदमकद श्रीविग्रह संस्थापित किया। श्री राधाचरण गोस्वामी जी के सेवित ठाकुर श्रीषडभुज महाप्रभु थे। इस कारण गोस्वामी जी का पता आज तक यही है- षडभुज महाप्रभु मंदिर, राधारमण मार्ग, वृन्दावन।

श्रीराधाचरण गोस्वामी की पत्रकारिता :— श्रीराधाचरण गोस्वामी जी की हिंदी पत्रकारिता उद्देश्यपरक पत्रकारिता थी। इस उद्देश्यपरक हिंदी पत्रकारिता के माध्यम से श्री गोस्वामी जी का मूल उद्देश्य भारतीयों का उत्थान करना था।

उन्होंने अपने समाचार पत्र भारतेंदु के माध्यम से ब्रिटिश सरकार को कई बार भारतीय समाज की दयनीय अवस्था से अवगत कराया। कलकत्ता उच्चन्यायालय में चल रहे एक मुकद्मे में उन्होंने जज की बात का पुरजोर विरोध किया था। श्री गोस्वामी जी ने ब्रिटिश शासकों से "भारतेंदु" के माध्यम से कहा कि हिंदुस्तानियों को भी ब्रिटिश नागरिकों की भाँति सिविल सेवा में आने का पूरा अधिकार दिया जाए।

"भारतेंदु" समाचार पत्र के माध्यम से उन्होंने स्वयं की लेखनी की अहमियत ब्रिटिश सरकार को बता दी थी। वे विशुद्ध समाजहित की पत्रकारिता में विश्वास रखते थे। तत्कालीन परिस्थितियाँ भारत की नारी के लिए अनुकूल न थीं। विधवाओं की स्थिति तो बद से बद्तर थी। श्री गोस्वामी जी ने अपनी पत्रकारिता के माध्यम से विधवाओं के पुनर्वास का मुद्दा ब्रिटिश सरकार के समक्ष उठाया। बाल-विवाह और विधवा शोषण का मुद्दा उन्होंने राष्ट्रपिता महात्मागांधी से पूर्व उठाया। जिसमें उन्हें काफी हद तक सफलता भी मिली। उन्होंने इस कुरीति को दूर करने के लिए विधिवत आंदोलन शुरू किया। इसी संदर्भ में उन्होंने विधवाओं की समस्याओं से ब्रिटिश सरकार को अवगत कराने के उद्देश्य से "विधवा विवाह" नामक एक पत्रिका का प्रकाशन-संपादन आरंभ किया, जिसकी नियमित प्रतियाँ ब्रिटिश संसद को भेजी जाती थीं। उन्होंने उक्त पत्रिका में उन सफेदपोश लोगों, नेताओं और समाज के ठेकेदारों को नंगा किया जो विधवा-विवाह का विरोध तो करते थे परंतु रात के अँधेरे में इन्हीं विधवाओं का शोषण करने में संलिप्त रहते थे। यह उनकी उद्देश्यपूर्ण पत्रकारिता का उदाहरण था कि तत्कालीन साहित्य जगत के विद्वानों व ब्रिटिश राजनेताओं ने इस पत्रकारिता की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी।

श्री गोस्वामी जी ने ब्रिटिश सरकार को हजारों नागरिकों के हस्ताक्षर करवाकर एक चिट्ठी लिखी जिसमें यह समस्या उठाई गई कि मथुरा-वृन्दावन के मध्य रेललाइन बिछाई जाए जिससे वृन्दावन की जनता को रेलगाड़ी का लाभ मिले। सन् 1882 में लिखे उक्त सार्वजनिक चिट्ठी का इतना असर हुआ कि सन् 1883 के अंत तक मथुरा-वृन्दावन के मध्य रेललाइन बिछकर तैयार हो गई जिसका श्रेय श्री गोस्वामी जी की उद्देश्यपरक पत्रकारिता को जाता है। आज की पत्रकारिता में लगे पत्रकारों को श्री गोस्वमी जी की पत्रकारिता से प्रेरणा लेनी चाहिए।

श्री राधाचरण गोस्वामी जी का आध्यात्मिक पहलू— राधाचरण गोस्वामी जी बहुत ही प्रगतिशील एवं जनतंत्रीय विचारक थे। इस कारण इन्होंने इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म, सिक्ख धर्म व हिंदू धर्म का गहन अध्ययन किया था। अंत में सनातन व वैष्णव धर्म को धारण किया। गोस्वामी जी पाखंड व आडंबरों के प्रबल विरोधी थे। वे बिना वजह की किसी धर्म की निंदा नहीं करते थे। उनकी आध्यात्मिक सोच सब धर्मों को सम्मान देना व निज सोच सत्यम शिवम् सुंदरम् वाली थी। एक धार्मिक शास्त्रार्थ में गोस्वामी जी की विद्वानों से एक लंबी बहस चली जिसमें उनकी विजय हुई तथा नवद्वीप धाम (बंगाल) के विद्वानों ने "विद्यावागीश" की उपाधि से सुशोभित किया।

गोस्वामी जी की कर्म स्थली व जन्म स्थली दोनों ही ब्रज में थी। इसलिए गोस्वामी जी ने राधाकृष्ण, ब्रज की संस्कृति, ब्रजभाषा, ब्रज की होली, ब्रज के लोग आदि का वर्णन अपनी कविताओं में वास्तविक, सटीक व सहज रूप में किया है। इस तरह गोस्वामी जी की आध्यात्मिक सोच सब धर्मों को सम्मान देने वाली थी। उनकी सोच किसी भी धर्म का अनादर करने वाली कदापि नहीं थी।

गोस्वामी जी सर्वधर्म समभाव के सिद्धांत के प्रतीक हैं अपने जीवन चरित के नौवें पृष्ठ पर उन्होंने स्वयं लिखा- "मैं एक कट्टर वैष्णव हिंदू हूँ, अन्य धर्म अथवा समाज के लोगों से विरोध करना उचित नहीं समझता। बहुत से आर्य समाजी, ब्रह्म समाजी, मुसलमान, ईसाई मेरे सच्चे मित्र हैं और बहुधा इनके समाजों में जाता हूँ।

श्री राधाचरण गोस्वामी जी का राष्ट्रीय व राजनैतिक पहलू — राजनैतिक एवं प्रशासनिक सूझ-बूझ के धनी गोस्वामी जी भारतेंदु हरिश्चन्द को अपना प्रेरणा स्रोत मानकर अपने ब्रज, समाज तथा देश के उत्थान में बिना समझौता किए निस्वार्थ भाव से आजीवन समाज सेवा में रत रहे। स्वाधीनता से पूर्व ऑनरेरी मजिस्ट्रेट होकर भी उन्होंने स्वदेशी चीजों को अपनाकर विदेशी हर चीज का बहिष्कार करने का अभियान चलाया।

देश की संसद में अंग्रेजों के साथ-साथ हिंदुओं का प्रतिनिधित्व होना चाहिए, इसका अभियान चलाया। लेखों, आंदोलनों तथा सभाओं के माध्यम से अपनी विचारधाराओं को जन-जन तक लेकर आए। उनकी विद्वता, प्रखरता, निर्भीकता तथा व्यंग्यात्मक लेखन शैली को देखकर बाबू

हरिश्चन्द्र, पंडित मदनमोहन मालवीय, लाला लाजपतराय, तिलक तथा रासबिहारी बोस आदि उनसे बहुत प्रभावित हो गए। पंडित मदनमोहन मालवीय ने तो यहाँ तक कह दिया कि अंग्रेज अगर आपके विचारों के प्रसार में रुकावट डालते हैं तो आप वृन्दावन के राधाचरण गोस्वमी जी से संपर्क स्थापित करें।

उन्होंने अपनी आत्मकथा में स्वयं कहा है— "देशोन्नति, नेशनल-काँग्रेस, समाज संशोधन, स्त्री स्वतंत्रता यह सब मेरी प्राणप्रिय वस्तुएँ हैं।"

ब्रज के प्रसिद्ध इतिहासकार— प्रो. चिंतामणि शुक्ल ने लिखा है "मथुरा में राष्ट्रीय प्रेम की चेतना जाग्रत करने तथा देश में देशोपकारी चेतना जाग्रत करने वाले वृन्दावन के श्रीराधाचरण गोस्वामी थे।"

श्रीराधाचरण गोस्वामी जी का साहित्यिक पहलू— श्रीराधाचरण गोस्वामी जी की साहित्यिक क्षमता को देखते हुए- 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बनारस, पटना, इलाहाबाद, कलकत्ता, वृन्दावन नवजागरण के पाँच प्रमुख केंद्र थे। वृन्दावन नवजागरण केंद्र के सर्वकालिक प्रतिनिधि श्रीराधाचरण गोस्वामी जी ही थे।

गोस्वामी जी भारतीय साहित्य में मंजू उपनाम से प्रसिद्ध थे। गोस्वामी जी ने साहित्य की दोनों विधाओं गद्य व पद्य में अपनी अद्भुत लेखनी से पूरे भारत वर्ष को प्रभावित किया- श्रीराधाचरण जी की प्रमुख रचनाएँ- 1. सतीचन्द्रावली, 1890 ई. अमरसिंह राठौर 1892, लोग देखे तमासे 1888, भगतग्ग-1992, तन, मन, धन गोंसाई जी के अर्पण (धर्मगुरुओं की पाखंडता का वर्णन), सुदामा, नवभक्तमाल, शिशरसुरामा, इच्कचमन, भ्रमरगीत, निपटनादन प्रेमबगीचा, बारहमास, भारत संगीत आदि आपकी साहित्यिक रचनाएँ हैं। इसके अलावा आपने व्यंग्यपरक प्रहसन भी लिखे हैं। गोस्वामी जी को नकल करना बिल्कुल पसंद नहीं था। उन्होंने अपनी आत्मकथा में कहा है - "मुझे पोथीपन्ने में देखकर लिखना बिल्कुल पसंद नहीं है। मैं जो भी लिखता हूँ मन से व यथार्थता के साथ लिखता हूँ" गोस्वामी जी ने यह भी कहा कि हमसे पूर्व के साहित्य में जो समय चल रहा था उसमें शृंगारिकता, तिलस्मिता, काल्पनिकता व मनोरंजक रचनाएँ लिखी जा रही थीं। इनका कुछ असर हम पर भी हुआ। खासकर शृंगारिकता का हुआ लेकिन हमने अपने आपको समय रहते इन सबसे बाहर निकाल लिया। गोस्वामी जी की गद्य व पद्य दोनों विधाओं में राष्ट्रीयता, सामाजिकता, यथार्थता व हिंदी भाषा प्रेम ही झलकता है। डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है- "स्वाधीन चेतना, आत्मनिर्भरता, साहस और निर्भीकता उनके विशेष गुण हैं। श्रीराधाचरण गोस्वामी जी का नाम उन महान साहित्यकारों में लिया जायेगा, जो साहित्य में सामाजिक और राजनैतिक आंदोलनों को प्रतिबिंबत ही नहीं करते थे वरन वह साहित्य में प्रेरणा भर देते थे। जो ऐसे आंदोलन का सूत्रपात करते हैं और उन्हें निश्चित लक्ष्य तक पहुँचाने में सहायक होते हैं।" उन्होंने 'भारतेंदु' नामक पत्रिका का प्रकाशन भी किया, उसके संपादक भी रहे। सन् 1883 से 1886 तक साहित्य में आत्मचरित और डायरी इन दो विधाओं के जन्मदाता थे। भाषा पत्रकारिता को उन्होंने गति प्रदान की। हिंदी साहित्य की जो सेवा श्री राधाचरण गोस्वामी जी ने की उस पर अभी पूर्ण शोधकार्य नहीं हो पाया है। उनकी विभिन्न विधाओं को उजागर करना तथा उनकी प्रगतिशील विचार धारा आज के साहित्य के लिए

तथा आज के समय के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकती है। गोस्वामी जी लगातार साहित्य की सेवा करते रहे। उस समय आपकी देश के साहित्यकारों में एक विशेष स्तर के लेखकों में गणना होने लगी थी।

श्रीराधाचरण गोस्वामी का भाषा प्रेम:

श्रीराधाचरण गोस्वामी जी हर स्वदेशी चीज से प्रेम व विदेशी का बहिष्कार करते थे। गोस्वामी जी हिंदी भाषा के प्रबल पक्षधर थे, वे हर हालात में वैज्ञानिक भाषा हिंदी को राष्ट्र भाषा के रूप में देखना चाहते थे। वे हिंदी भाषा के प्रचार व प्रसार के लिए अपनी लेखनी व कार्यों से हमेशा अग्रणी रहते थे। गोस्वामी जी अपनी हिंदी भाषा की कृतियों का मूल्य इतना कम रखते थे कि वह समाज के हर वर्ग के लोगों के पास आसानी से पहुँच जाए और समाज के ज्यादातर लोग उनके व्यंग्यपरक लेखों का रसास्वादन कर सकें। यही उम्मीद वह अन्य लेखकों से करते थे। गोस्वामी जी नए लेखकों के हिंदी प्रहसनों को जरूर पढ़ते थे और उन्हें ज्यादा से ज्यादा पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखने के लिए दिन-रात प्रेरित करते। उस समय लगभग सभी पत्र-पत्रिकाओं में हिंदी के अनेकों व्यंग्यपरक लेख उनके द्वारा लिखे गए। उन्होंने सन् 1882 के शिक्षा कमीशन के सामने 2100 लोगों के हस्ताक्षर करवाकर हिंदी भाषा का पक्ष मजबूत किया और भारतेंदु पत्रिका में कविता दी-

पुकारो हिंदी, हिंदी हिंदी।
बोलो प्रेम से हिंदी, हिंदी, हिंदी॥
हिंदी-हिंदी करते रहो, जब लगि घट में प्रान।
कबहु तो दीनदयाल के भनकि पड़ेगी कान॥

1882 ई. में भाषा की उन्नति के लिए अलीगढ़ में भाषा वर्धिनी सभा को अपना सक्रिय समर्पण प्रदान करते हुए कहा था, यदि हमारे देशवासियों की सहायता मिले, तो इस सभा से भी हमारी भाषा की उन्नति होगी।

कलकत्ता से प्रकाशित हिंदी साप्ताहिक पत्र सार सुधानिधि में रेल की टिकटों में नागरी नहीं लिखी जाती है जिससे नागरी का प्रचार नहीं हो पाता क्या रेलवे अध्यक्ष को नागरी से शत्रुता है या हमारे देशवासी नागरी नहीं जानते। वर्तमान समय में जो लोग हिंदी भाषा को राष्ट्र भाषा बनाने के लिए प्रयासरत हैं उन्हें गोस्वामी जी के हिंदी भाषा के लिए किए गए योगदान से प्रेरणा लेनी चाहिए।

गोस्वामी जी हमेशा चिंतित रहते थे कि आम लोग हमेशा अपने हित के लिए सोचते हैं करोड़ों की आबादी वाले हमारे भारत वर्ष में यदि लाखों की संख्या में देशहित के लिए लोग सोचें तो भारत स्वतंत्र होकर प्रगति के शिखर पर पहुँच जाए। गोस्वामी जी जब देशहिताय के लिए लोगों को आगे बढ़ते देखते तब उन्हें अपार हर्ष होता। गोस्वामी जी देश भक्ति को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सकलार्थसाधिनी कहा करते थे। गोस्वामी जी ने देशवासियों को देश-भक्ति से प्रेरित कर उन्हें स्वतंत्रता का गुरु मंत्र दिया तथा समाज में व्याप्त कुरीतियों, पाखंडों, अंधविश्वास, विदेशी नीतियों का पुरजोर विरोध किया और समाज में शिक्षा के प्रसार व प्रचार पर अधिक बल दिया। हमारी राष्ट्रीय भाषा हिंदी, देश स्वतंत्रता तथा दलितों के लिए गोस्वामी जी अपनी रचनाओं का निःशुल्क

आवंटन करते रहे जिसमें समाज के हर वर्ग तक हिंदी भाषा से दलित, मजदूर वर्ग, व राष्ट्र से प्रेम की भावना जाग्रत हो सके। इसीलिए गोस्वामी जी हमेशा समाज सुधार, देशोपकार तथा साहित्य की सेवा तन, मन, धन से करते रहे। गोस्वामी जी की प्रगतिशील विचारधाराएँ, उनका निर्भीक चिंतन तथा समाज सुधार, निर्भीक पत्रकारिता लेखन व उनकी उद्देश्यपरक प्रेरणाओं की वर्तमान में अत्यधिक आवश्यकता है। जब हमारा भारत वर्ष दिन-प्रतिदिन पाश्चात्य शैली को अपनाकर गौरवान्वित महसूस कर रहा है। युवा वर्ग को तो पाश्चात्य चकाचौंध ने जैसे जकड़ ही लिया है। ऐसे समय में गोस्वामी जी की अत्यधिक आवश्यकता है। जब अधिकतर समाज पाश्चात्य जीवन शैली का गुलाम होता जा रहा है। हमारी भारतीय संस्कृति जो पूरे विश्व में सरलता, सादगी, सज्जनता व नैतिक विचारों तथा धार्मिक क्रिया कलापों के लिए विश्व में जानी जाती थी और विश्व के लोग भारतीय संस्कृति को अपना रहे हैं। उस समय हमारे देश के युवा अपनी संस्कृति से कुछ पीछे हट रहे हैं। ऐसे समय में वृन्दावन के राधाचरण गोस्वामी जी की आत्मा को जरूर ठेस पहुँचेगी। इसलिए समाज के हर व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह अपने हित के साथ-साथ कुछ देशहित के लिए सोचे तब कहीं जाकर गोस्वामी जी की प्रगतिशील विचारधाराएँ सफल हो पायेंगी, हमारा विकासशील देश प्रगतिशील हो पायेगा और अपनी संस्कृति का परचम लहरा पायेगा।

संदर्भः

1. सार सुधानिधि, 12 सितंबर 1881 ई. कलकत्ता से प्रकाशित
2. 1882 ई. में देशभाषा की 'भाषा वर्धिनी सभा' अलीगढ़
3. मित्र विलास- 'देशोन्नति' - गोस्वामी जी का लेख 24 सितंबर सन् 1877 ई.
4. राधाचरण गोस्वामी : रचना संचयन
5. मेरा संक्षिप्त 'जीवन चरित्र' श्री कवि कर्णकपूर
6. गोस्वामी जी की डायरी सन् 1901 ई.
7. भारत मित्र 29 मार्च सन् 1883 ई.
8. कवि वचन सुधा 'देशभक्ति करो' - 16 जुलाई सन् 1877 ई.
9. भारतेंदु 'वृन्दावन रेलवे' - 16 जुलाई सन् 1886 ई.
10. मित्र विलास - 'बधाई' - 22 दिसंबर सन् 1879 ई.
11. भारतेंदु ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णमासी जून 1884 अंक 2 पश्चिमोत्तर का प्रतिनिधि पृ. 38
12. भारतेंदु वैशाख शुल्क 15 विक्रम संवत 1940 अंक 21 पश्चिम और अवध में आत्मशासन पृ. 25
13. हिंदुस्तान हिंदी का उदार-2 अक्टूबर सन् 1887 ई.
14. भारतेंदु मासिक पत्र-दिनांक 18 अगस्त, 1883 ई.

❑❑

तुलसी–साहित्य के अंतर्विरोध

–सुरेन्द्र सिंह यादव

भक्तप्रवर कविकुल शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास हिंदी भाषा और हिंदी जनता के ऐसे चंद्र हैं जिनकी काव्य–चंद्रिका सतत् निःसृत होती हुई क्लेश–कलुषता धोती रहती है। घर–घर में तुलसी की प्रतिष्ठा का आधार इससे इतर भला और क्या होगा! बाबा तुलसीदास अबके ही नहीं तबके भी शिरोमणि थे। डॉ. ग्रियर्सन ने उन्हें अकबर महान से भी महान बताकर बुद्धदेव के बाद भारत का सबसे बड़ा लोकनायक घोषित किया। भारतवर्ष का लोकनायक कौन हो सकता है, यह भारतीय सांस्कृतिक और साहित्यिक परंपरा के प्रकांड पंडित व्योमकेश दरवेश यानि हजारीप्रसाद द्विवेदी से भली प्रकार जाना जा सकता है। आचार्य द्विवेदी 'हिंदी साहित्य की भूमिका' में लिखते हैं– "भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके, क्योंकि भारतीय समाज में नाना भाँति की परस्पर विरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ, आचार निष्ठा और विचार पद्धतियाँ प्रचलित हैं। बुद्धदेव समन्वयकारी थे, गीता में समन्वयकारी चेष्टा है और तुलसीदास भी समन्वयकारी थे।"[1] निस्संदेह तुलसी साहित्य बिखरी और दिशाहीन दृष्टि को लोकमंगल की समन्वय–माला में पिरो देने वाला है। तुलसी और तुलसी साहित्य के इस गुण का गान प्रत्येक विद्वान मुक्त कंठ से करता है। प्रखर मार्क्सवादी आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा तुलसीदास को सामंत विरोधी कवि कहते अघाते नहीं हैं। लोकमंगल, समन्वय और सामंत विरोध के तथ्य तुलसी साहित्य में बखूबी देखे जा सकते हैं।

लोकमंगल, समन्वय और सामंत विरोध के साथ–साथ और इनसे अलग भी, तुलसी साहित्य की एक विशेषता और है जिस ओर आलोचकों ने खास ध्यान नहीं दिया है, वह विशेषता है– अंतर्द्वंद्व और अंतर्विरोध। तुलसी साहित्य के इस पक्ष पर भी तथ्य उल्लेख के बजाय विस्तार से विवेचन की आवश्यकता है, जो कि अभी तक नहीं हुआ है। तुलसीदास भक्त जरूर थे मगर ऐसे भक्त नहीं, जो 'जगत मिथ्या' कहकर अपने तक अपनी दुनिया रखते हों। बाबा तुलसीदास को देश–दुनिया की खबर थी। वे अपने समय से वाकिफ थे। उन्होंने अपने समय के यथार्थ से साक्षात्कार किया था। जूझे थे उस यथार्थ से, टकराये भी थे और यथार्थ के सामने अपना 'आदर्श'

भी रखा। गोस्वामी तुलसीदास के लिए अपने समय के यथार्थ से लेकर अपने 'मानस' के आदर्श तक पहुँचने की डगर एकदम सीधी नहीं थी। सपाट भी नहीं थी। वह डगर तीखे मोड़ों वाली थी। ऊबड़-खाबड़ थी। इन मोड़ों पर रचनाकार तुलसीदास द्वंद्व से घिर जाता है। इन द्वंद्वों को हम तुलसी साहित्य के अंतर्विरोध के रूप में देख सकते हैं।

इन अंतर्द्वंद्व-अंतर्विरोधों के अंतर्गत उन दो बिंदुओं पर भी चर्चा लाजिमी है, जिन दो बिंदुओं को लेकर तुलसीदास पर जमकर प्रहार हुए हैं। उन्हें हिंदू समाज का पथ भ्रष्टक तक कहा गया। वे दो बिंदु हैं— नारी निंदा और वर्ण-जाति की प्रतिष्ठा।

तुलसी साहित्य के नारी पक्ष को लेकर हिंदी आलोचना में तुलसीदास की खूब खिंचाई हुई है। कहीं-कहीं आलोचना ने स्वरूप कुछ इस प्रकार का लिया कि वह समीक्षा कम, तुलसी पक्ष और तुलसी प्रतिपक्ष की वकीलाई ज्यादा लगती है। खैर, यह तो मान लेना ही चाहिए कि तुलसी साहित्य में 'नारी निंदा' को लेकर उक्तियाँ हैं, और पर्याप्त उक्तियाँ हैं। यह सही है— "तुलसीदास जितनी नारी निंदा किसी अन्य सगुण भक्त के यहाँ नहीं मिलेगी।"[2] मगर 'सच' सिर्फ इतना ही नहीं है। बस यही सच है, ऐसा भी नहीं है। बाबा तुलसी स्त्री अस्मिता के प्रति, उसके अस्तित्व-महत्व के प्रति निरे बेपरवाह नहीं थे। उन्हें नारी अस्मिता, उसके महत्व का बोध था, मगर वह बोध द्वंद्वग्रस्त रहता था। तुलसी एक जगह लिखते हैं—

बरु अपजस सहतेउँ जग माहीं।
नारि हानि बिसेष छति नाहीं॥[3]

'नारि हानि' क्षति तो है मगर कोई विशेष क्षति नहीं होती, यह बात तुलसी ने राम के मुख से लक्ष्मण शक्ति के दौरान कहलवायी है। तो दूसरी जगह राम के ही संदर्भ में 'नारि हानि' को इतनी बड़ी क्षति बताते हैं कि वह रोषपूर्वक रावण को मारने का कारण बन जाती है—

नारि बिरहँ दुखु लहेउ अपारा।
भयउ रोषु रन रावनु मारा॥[4]

यह तो रही तुलसी साहित्य में नारी के महत्व को लेकर दो स्थितियाँ। दोनों स्थितियाँ एक दूसरे की अंतर्विरोधिनी हैं। नारी अस्मिता, उसके अस्तित्व और स्वाधीनता की बात तुलसी कविता किस प्रकार करती है, अब उसकी भी नब्ज टटोलते हैं। यह अक्सर कहा जाता है कि तुलसीदास स्त्री स्वतंत्रता के विरोधी हैं। आलोचकों का ऐसा कहना निराधार भी नहीं है। तुलसी साहित्य में इस मत के तथ्य हैं भी—

महाबृष्टि चलि फूटि किआरीं।
जिमि सुतंत्र भएँ बिगरहिं नारीं॥[5]

यहाँ तुलसीदास की सीधी-सीधी व्यंजना है कि स्वतंत्र होने पर स्त्रियाँ 'बिगड़' जाती हैं। जाहिर है बाबा तुलसी स्त्री को पुरुष के अधीन रहने की बात कह रहे हैं। इस विचार के बरअक्स वे समाज में, व्यवहार में स्त्रियों को इस प्रकार से पराधीन पाते हैं कि उनकी पराधीनता को देखकर व्याकुल हो जाते हैं। यह नारी पराधीनता उनके हृदय को कचोटती रहती है। कचोटती रहती है अर्थात् यह कचोट सिर्फ एक बार नहीं होती। यह भाव उनके समग्र साहित्य में बना रहता है। यह कचोट 'पार्वती मंगल' से लेकर 'रामचरितमानस' तथा अन्य ग्रंथों तक में देखी जा सकती है—

उमा मातु मुख निरखि नैन जल मोचहिं।
नारि जनमु जग जाय सखी कहि सोचहिं॥[6]

सखियाँ यह कहकर कि 'संसार में स्त्री का जन्म ही वृथा है', सोच करने लगती हैं। यह उक्ति तुलसी की छोटी सी कृति 'पार्वती मंगल' से उस समय की है जब माता मैना पुत्री पार्वती को पति शिव के साथ विदा करती हैं। इस उक्ति में तुलसी का 'सोचहिं' शब्द बहुत अर्थपूर्ण है, जो इस भावना को और मार्मिक बना देता है। स्त्री पराधीनता को लेकर तुलसीदास का 'सोच करना' 'रामचरितमानस' में आकर 'विकलता' में तब्दील हो जाता है—

कत बिधि सृजीं नारि जग माहीं। पराधीन सपनेहुँ सुखु नाहीं।
भै अति प्रेम बिकल महतारी। धीरजु कीन्ह कुसमय बिचारी॥[7]

'भै अति प्रेम बिकल महतारी'—यह विकलता सिर्फ महतारी (माँ) की ही नहीं है, यह विकलता कवि की भी है, तुलसीदास की भी है।

ध्यान देने की बात यह भी है कि यह निखालिस व्याकुलता नहीं है, प्रश्नाकुल व्याकुलता है— 'विधाता! तूने स्त्री को इस संसार में पैदा ही क्यों किया?' यह प्रश्नाकुलता इसलिए है क्योंकि स्त्री पराधीन है, और जो पराधीन होते हैं—पराश्रित होते हैं उन्हें सुख सपने में भी नहीं मिलता। यह अलग बात है कि यह प्रश्न सीधे-सीधे पितृसत्ता से नहीं है, इस जगत की सत्ता से है।परम सत्ता से है। हालाँकि इस जगत की सत्ता और इस सत्ता का मुखिया पितृसत्ता के सबसे बड़े स्रष्टा हैं। तब यह प्रश्न इस ओर भी है। खैर उस मध्यकालीन माहौल में एक पुरुष से यह अपेक्षा की जाए कि वह स्त्री के पक्ष में सीधे-सीधे लौकिक पितृसत्ता के समक्ष प्रश्न खड़ा करे, ज्यादती लगती है। प्रश्न है, यही बहुत महत्वपूर्ण है। यह प्रश्नाकुलता 'कवितावली' में जगह-जगह उभर कर आती है। तुलसीदास की उपर्युक्त व्याकुलता का मंतव्य कुछ ऐसे है कि जब स्त्री को पुरुष के अधीन ही रहना है, तब सृष्टि के रचयिता! तूने स्त्री को रचा क्यों? स्त्री के लिए सुख नहीं है क्योंकि स्त्री पराधीन है, और पराधीन को सुख कहाँ? सपने में भी नहीं। यह प्रश्नाकुल व्याकुलता 'रामचरितमानस' में एक-दूसरे स्थान पर सीता की विदाई के समय भी फूट पड़ती है—

बहुरि बहुरि भेंटहिं महतारीं।
कहहिं बिरंचि रचीं कत नारीं॥[8]

ऐसी प्रश्नाकुल व्याकुलता, तुलसी साहित्य की यह संवेदना और सहज वेदना हृदय को द्रवित कर देने वाली है। यह संवेदना तुलसीदास और उनके साहित्य को आधुनिक चेतना से जोड़ देती है। यह एक ऐसा अंतर्विरोध है जो तुलसी को उनके युग के अन्य महान रचनाकारों से अग्रिम पंक्ति में विराजमान कर देता है।

यह बात बड़े मार्के की है कि तुलसी स्त्री पराधीनता को लेकर जब जब व्याकुल होते हैं, तब तब वह समय विवाह का और विवाह में विदाई का होता है। दरअसल जिसे सभ्य समाज कहा जाता है, उसमें पितृसत्ता की नींव ही वहीं से पड़ती है, जब विवाह के बाद एक स्त्री एक पुरुष के साथ, उसके संरक्षण में पुरुष के घर की ओर चल पड़ती है। विवाह की ऐसी व्यवस्था पर तुलसी ने विरोधपूर्वक कहीं कुछ लिखा हो, ऐसा तो कतई नहीं मिलता। मगर विवाह की इस व्यवस्था के बाद एक पुरुष द्वारा एक स्त्री को अपने घर ले जाना, और तुलसीदास का इसे स्त्री पराधीनता से देखना, आधुनिक स्त्रीवादियों को भी छका देता है। मध्यकाल का कोई रचनाकार ऐसी व्यवस्था को स्त्री पराधीनता की नजर से भी देख सकता है, यह अपने आप में गूढ़ अर्थपूर्ण है।

नारी पक्ष को लेकर तुलसी साहित्य में एक गहरा अंतर्विरोध और है। कमलानंद झा ने आलोचकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया है– "ऐसा नहीं है कि तुलसी ने 'मानस' में सभी प्रकार की नारियों की निंदा की है। लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि तुलसी के 'मानस' में व्यक्तिवाचक नारी प्रशंसित है और जातिवाचक नारी निंदित है।"[9]

तुलसी साहित्य के जिस पक्ष को लेकर हिंदी आलोचना में तुलसीदास पर सबसे ज्यादा हमले हुए हैं, और जो कि आज भी जारी हैं, वह है वर्ण-जाति व्यवस्था का समर्थन और प्रतिष्ठा। तुलसी अपने काव्य में वर्ण व्यवस्था के लिए विशेष आग्रही रहे, यह कहना अनुचित नहीं है। वर्ण व्यवस्था के बने न रह पाने की कचोट उन्हें जगह-जगह सालती है। वर्ण व्यवस्था के प्रति उनका मोह 'रामचरितमानस' से 'कवितावली' तक बना रहता है। वर्ण व्यवस्था के प्रथम वर्ण ब्राह्मण की श्रेष्ठता सिद्ध करने और अंतिम वर्ण शूद्र की निम्नता बनाये रखने के लिए उन्होंने कुछ विवादास्पद-अशोभनीय-अस्वीकार्य बातें कही हैं। इस संदर्भ में 'मानस' की यह चौपाई अक्सर उद्धृत की जाती हैं–

सापत ताड़त परुष कहंता। बिप्र पूज्य अस गावहिं संता।
पूजिअ बिप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुन गन ग्यान प्रबीना॥[10]

तुलसीदास संतों के बहाने राम के मुख से यह स्थापना-सी दे रहे हैं कि ब्राह्मण चाहे शाप दे, चाहे पीटे, चाहे कठोर (चुभ जाने वाले) बोल ही बोले मगर वह पूजनीय होता है, ऐसा संत कहते हैं। ब्राह्मण कैसा भी हो, चाहे चरित्रहीन और गुणहीन हो, मगर पूज्य होता है, उसकी पूजा करनी चाहिए। इसके बरअक्स शूद्र चाहे ज्ञानी ही क्यों न हो, गुणों से परिपूर्ण प्रवीण ही क्यों न हो, वह पूज्य नहीं हो सकता। वह पूजक ही रहेगा। ब्राह्मण के लिए तुलसी का लोक मर्यादाओं को लाँघता हुआ

ऐसा अतिशय आग्रह संकीर्ण और रूढ़िग्रस्त हो जाता है। शूद्र कितना भी योग्य क्यों न हो, उसे अधिकार देना ही नहीं है; यह तुलसी के 'मानस' का पूर्वाग्रह ही है।

इससे अलग तुलसी साहित्य का एक पक्ष और भी है, जहाँ वे इस रूढ़ि और पूर्वाग्रह से परे जाकर जन्मजात उच्च वर्ण (ब्राह्मण) का खंडन और वर्ण चाहे निम्न हो किंतु योग्य व्यक्ति का मंडन करते दिखाई देते हैं। वर्ण-श्रेष्ठता के मंडन-खंडन का यह अंतर्विरोध उनकी 'वैराग्य संदीपनी' की निम्न पंक्तियों से समझा जा सकता है—

तुलसी भगत सुपच भलौ, भजै रैन दिन राम।
ऊँचोकुल केहि काम को, जहाँ न हरि को नाम॥[11]

अब बात करते हैं जाति की। भारतीय समाज की इस व्यवस्था को तुलसी ने देखा भी और भोगा भी। उनकी जाति को लेकर काशी के पंडितों ने उनकी खूब बेइज्जती-हुज्जत की। बाबा जातिवादियों से तंग आ जाते हैं, और कह देते हैं—

धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जुलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब काहू की जाति बिगार न सोऊ।
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को जाकौ रुचौ सो कहै कछु ओऊ।
माँगि कै खैबो मसीत को सोइबो लैबे को एकु न दैबे को दोऊ॥[12]

जिसको जो अच्छा लग रहा है—धूत, अवधूत, राजपूत, जुलाहा-सो कह सकता है। बाबा तुलसीदास पर कोई फर्क नहीं पड़ने वाला। बाबा को न किसी का लेना एक है, न देना दो। और ज्यादा करोगे तो खाने को न मिलेगा-माँग कर खा लेंगे। मंदिर में सोने नहीं दोगे-मस्जिद में चले जायेंगे। गोस्वामी तुलसीदास एकदम बैरागी हो जाते हैं। जाति-बोध उनके लिए किसी काम का नहीं—

मेरे जाति पाँति न चहौं काहू की जाति पाँति।
मेरे कोऊ काम को न हौं काहू के काम को।[13]

ऐसा लगता है, जाति से तुलसीदास का एक प्रकार से मोहभंग-सा हो जाता है। जाति मोह छूटने का स्वर उनकी आत्म निवेदन की कविताओं में भी बार-बार सुनाई देता है—

लोग कहैं पोचु सो न सोच न संकोच मेरे।
ब्याह न बरेखी, जाति-पाँति न चहत हौं।[14]

बाबा तुलसी कह बेशक रहे हों कि 'उन्हें जाति से कोई मतलब नहीं है। लोगों को जो कहना है सो कहते रहें। उन्हें 'सोच' नहीं है।' मगर सच का एक हिस्सा यह भी है कि काशी में हुई उनकी जातीय हुज्जत-बेइज्जती की पीड़ा वे भूल नहीं पाते। जाति अपमान का दंश उन्हें सालता रहता है।

सोच उन्हें बना रहता है, जो कि 'मानस' की रचना के समय 'सती प्रसंग' के दौरान बरबस फूट पड़ता है—

जद्यपि जग दारुन दुख नाना।
सबतें कठिन जाति अवमाना॥[15]

गोस्वामी तुलसीदास जाति से तो मुँह मोड़ लेते हैं मगर वर्ण-आश्रम के बने न रह पाने की कसक उन्हें अंत तक रहती है— **"आस्रम बरन कलि बिबस विकल भए/निज निज मरजाद मोटरी-सी डार दी।"**[16] यह ठीक वैसा ही अंतर्विरोध है जैसा गांधी महात्मा में दिखाई देता है।

'सबतें कठिन जाति अवमाना' — तुलसी उच्च वर्ण के थे। मगर उन्हें भी जाति अपमान की पीड़ा हुई थी। इतिहास और आख्यान साक्षी हैं कि जो निम्न वर्ण के माने जाते हैं, उन्हें जाति को लेकर अक्सर अपमानित होना पड़ा है, और आज लोकतांत्रिक व्यवस्था में भी यह सामाजिक व्यवस्था बनी हुई है। जब उच्च वर्ण के संन्यासी स्वभाव को जाति अपमान संसार के सारे दु:खों से अधिक कष्टकर हो गया तब निम्न वर्ण के संसारी मनुष्य को कितना पीड़ादायक होता होगा, यह वेदना-यह संवेदना तुलसीदास की उपर्युक्त पंक्ति महसूस करा देती है। अब इसे अचरज कहा जाए या अंतर्विरोध कि जाति अपमान की पीड़ा को महसूस करते हुए भी तुलसी निम्न वर्ण के लिए पीड़ादायक पंक्तियाँ लिख ही डालते हैं। यद्यपि तुलसीदास ने उच्च जाति के समर्थन में और निम्न जाति के विरोध में कई जगहों पर लिखा है, किंतु जाति अपमान की जिस कठोर वेदना को शूद्र-अवर्ण-दलित सहता है, उसे यहाँ तुलसीदास भी महसूस कर रहे हैं। इस दुख की भावभूमि पर शूद्र और तुलसी साथ-साथ खड़े मिलते हैं। जाति अपमान को संसार के सारे दु:खों से ऊपर रखते हुए उसे सबसे अधिक कष्टकर मानना भारत के उन मार्क्सवादी तथा अन्य चिंतकों के लिए सीख है जो वर्ण भेद को पीछे धकेलकर, वर्ग भेद तक सीमित होकर जाति-समस्या पर लीपा-पोती करते रहते हैं।

तुलसी साहित्य के इस अंतर्विरोध का जो एक कारण है वह है— समाज और संन्यास का द्वंद्व। तुलसीदास संन्यासी हो गये थे। अब संन्यासी को क्या अपनी, क्या दूसरे की जाति से मतलब! तो इसलिए उन्हें जाति से मोह नहीं रहता। मगर तुलसीदास पैदा तो इसी भारतीय समाज में हुए थे। यहाँ भगवान भी पैदा हो तो उसकी भी जाति होती है, तब बाबा तुलसी कैसे बच पाते-वे तो साधु थे, संन्यासी थे। जाति का यह संस्कार उन्हें अपने समाज से मिला। यह संस्कार इतना गहरा था कि तुलसी इससे अंत तक जूझते रहे, मगर मुक्त न हुए। आज भी आधुनिक काल में जिन्हें प्रगतिशील कहा जाता है, क्या वे अपने जाति संस्कार से मुक्त हो पाते हैं? खैर फिलहाल इसकी चर्चा करना विषयांतर होगा।

इन अंतर्विरोधों के होने या बनने में उन संस्कारों की महती भूमिका है जो संस्कार तुलसीदास ने अलग-अलग जगह से अलग-अलग रूप में पाये थे। उनके मध्यकालीन समाज ने उन्हें कुछ और संस्कार दिये और उनके भक्ति आंदोलन ने उन्हें कुछ और संस्कार दिये। दोनों के संस्कार आपस में

मेल नहीं खाते। परस्पर टकराते हैं। तुलसी जब खुद को सामंती सोच के अनुरूप पुरुष और ब्राह्मण की चौहद्दी में समेट लेते हैं तब वे नारी और निम्न वर्ण पर विवादास्पद और अस्वीकार्य बातें कहने लगते हैं, और जब वे सब कुछ भूलकर सामंती सोच से परे जाकर भक्त हो जाते हैं तब उनके लिए नारी भी मुक्ति और बराबरी की अधिकारिणी हो जाती है– **"राम भगतिरत नर अरु नारी। सकल परम गति के अधिकारी"**[17] और निम्न वर्ण भी सम्मान– **"रामसखा रिषि बरबस भेंटा"**[18] और समानता– **"मज्जहिं तहाँ बरन चारिउ नर"**[19] का पात्र हो जाता है।

तुलसी साहित्य का एक अंतर्विरोध नियतिवाद और गीता प्रेरित कर्मवाद के संदर्भ में भी देखा जा सकता है। इस संसार में जो कुछ हो रहा है और जो कुछ होगा, वह सब पूर्व निर्धारित है। राम (विधाता) के यहाँ सब पहले से रचा-लिखा हुआ है, ऐसा गोस्वामी तुलसीदास मानते हैं। वे तो यहाँ तक कह देते हैं कि इस पूर्व रचे-लिखे पर तर्क-वितर्क करना यानि किसी भी प्रकार का मानवीय हस्तक्षेप फिजूल है–

होइहि सोई जो राम रचि राखा।
को करि तर्क बढ़ावै साखा॥[20]

मगर आगे जाकर वे ठीक विपरीत विचार कर कर्मशीलता पर अगाध विश्वास जमाते हैं। उनका मानना है कि इस संसार की धुरी कर्म है। आदमी वैसा ही फल-भोग करता है, जैसा वह करता है–

करम प्रधान बिस्व करि राखा।
जो जस करइ सो तस फलुचाखा॥[21]

दरअसल यह अंतर्विरोध दो दर्शनों का अंतर्विरोध है। बाबा तुलसीदास दार्शनिक तो नहीं थे मगर दर्शन के ज्ञाता अवश्य थे। उन्होंने निगम और आगम दोनों का ही अध्ययन किया था। उन पर दोनों का खासा प्रभाव भी था। एक ने उन्हें नियतिवाद दिया तो दूसरे ने कर्मवाद। अतः तुलसी साहित्य में दोनों मिल जाते हैं।

अंतर्विरोध सदैव नकारात्मक ही नहीं होते, सकारात्मक भी होते हैं। तुलसी की कविता में कथा और कथनी के बीच भी अंतर्विरोध है। तुलसी साहित्य में कई जगह कई उक्तियाँ निंदाजनक जरूर हैं, किंतु उनकी कथा में कथा के चरित्रों के प्रति कोई रूढ़ और निंदित व्यवहार कथा प्रवाह के भीतर भी आता है, ऐसा नहीं है। वे विवादास्पद बात कह तो जाते हैं मगर उस बात (विचार) को घटाने के लिए कहानी नहीं बुनते। कथा और कथनी के बीच का यह अंतर्विरोध एक ऐसा ही सकारात्मक अंतर्विरोध है।

तुलसी साहित्य में अंतर्विरोध और भी हैं। ये अंतर्विरोध उनकी कविता को जमीनी बनाते हैं। उन्होंने यह सब हवा में नहीं लिखा था। पहले देखा था, भोगा था, पचाया था फिर कविता में उड़ेल

दिया। इसे देखने से लेकर उड़ेल देने तक की यात्रा में जाने कितनी जगह कितनी बार जूझते हैं। जितने जितने वे जूझते जाते हैं, उतने उतने वे तपते जाते हैं, साथ ही साथ उनकी कविता भी उतनी उतनी खरी होती जाती है। कमलानंद झा गौर से देखे जाने का आग्रह करते हुए अपनी किताब में लिखते हैं कि तुलसीदास मध्यकाल के सर्वाधिक आत्मसंघर्षी कवि हैं।[22] दरअसल यह संघर्ष उनकी जीवन–परिस्थितियों से पैदा होता है। रोटी के टुकड़े के लिए उन्हें बचपन से ही भटकना पड़ा– **"बारे तें ललात बिललात द्वार द्वार दीन।"**[23] चने के चार दाने पा जाना ही उनके लिए उनके चार पुरुषार्थ थे– **"जानत हौं चारि फल चारिही चनक को।"**[24] मध्यवर्ती जीवन में आये तो किसान, व्यापारी, मजदूर सबको बदहाल देखा। ऐसी भुखमरी को देखा जिसमें नैतिकता–भावना निष्कासित हो गयी। भूख ऐसी विकराल थी कि लोग कुछ भी करने–खाने–बेचने को विवश हो गये– **"ऊँचे नीचे करम धरम अधरम करि/पेट ही को पचत बेचत बेटा बेटकी।"**[25] भूख की ऐसी भयावहता को देखकर भक्त तुलसीदास को भी लिखना पड़ा– **"आगि बड़वागि तें बड़ी है आगि पेट की।"**[26] जीवन के अंतिम दिनों में आते हैं तो बाहु–पीड़ा से कराहने लगते हैं। तुलसी ने जीवनभर राम की भक्ति की थी। राम पर उन्हें अगाध–अटूट विश्वास था तो उन्हीं से विनती की– प्रभु, बाहु–पीड़ा रूपी कलिकाल से आप ही मुक्ति दिलाइए। कुछ फायदा नहीं होता देख हनुमान को याद करते हैं मगर मुक्ति मिल नहीं पाती– **"चेरो तेरो तुलसी तू मेरो कह्यो रामदूत/ढील तेरी बीर मोहि पीरतें पिराति है।"**[27] ये तुलसी की जीवन–परिस्थितियों के वे नमूने हैं, जिनसे वे जूझते रहते हैं। ऐसे ही संघर्षों की दु:ख भरी दास्तान है 'कवितावली'।

जैसा कि गोपेश्वर सिंह कहते हैं– "व्यक्ति के अपने अंतर्विरोध भी होते हैं...देखा यह जाना चाहिए कि इन अंतर्विरोधों के बावजूद इस लेखक की दृष्टि विकासोन्मुख है या नहीं।"[28] रचनाकार एक व्यक्ति ही होता है। तुलसीदास भी थे और उनके अपने अंतर्विरोध भी थे। तुलसी साहित्य की समीक्षा करते समय एक समीक्षक को ये अंतर्विरोध अपने जहन में भली प्रकार रखने चाहिए। तब शायद तुलसी साहित्य की विकासोन्मुखता अच्छी तरह समझी जा सके और कहा जा सके कि "तुलसीदास निर्विवाद रूप से न केवल मध्ययुगीन भक्ति काव्य के, वे समूची हिंदी कविता में बड़ी हैसियत के कवि हैं– "महत् कविता के स्रष्टा, उसके मानक।"[29]

संदर्भः

1. हिंदी साहित्य की भूमिका, हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2014, पृ. 98
2. लोकवादी तुलसीदास, विश्वनाथ त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1999, पृ. 55
3. रामचरितमानस, गीता प्रेस, गोरखपुर, प्रथम एवं सामान्य संस्करण सं. 2075, लंकाकांड 61/6, पृ. 674

4. उपर्युक्त, बालकांड 46/4, पृ. 60

5. उपर्युक्त, किष्किन्धाकांड 15/4, पृ. 568

6. पार्वती मंगल, गीता प्रेस, गोरखपुर, अड़तालीसवाँ पुनर्मुद्रण संस्करण सं. 2073, छंद 144, पृ. 31

7. रामचरितमानस, गीता प्रेस, गोरखपुर, प्रथम एवं सामान्य संस्करण सं. 2075, बालकांड 102/3, पृ. 99

8. उपर्युक्त, बालकांड 334/4, पृ. 264

9. तुलसीदास का काव्य-विवेक और मर्यादाबोध, कमलानंद झा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2017, पृ. 110

10. रामचरितमानस, गीता प्रेस, गोरखपुर, प्रथम एवं सामान्य संस्करण सं.2075, अरण्यकांड 34/1, पृ. 542

11. वैराग्य संदीपनी, गीता प्रेस, गोरखपुर, छंद 38

12. कवितावली, गीता प्रेस, गोरखपुर, पचपनवाँ पुनर्मुद्रण संस्करण सं.2070, उत्तरकांड 106, पृ. 121

13. उपर्युक्त, उत्तरकांड 107, पृ. 121

14. विनय पत्रिका, गीता प्रेस, गोरखपुर, सतहत्तरवाँ पुनर्मुद्रण संस्करण सं.2073, पद 76, पृ. 110

15. रामचरितमानस, गीता प्रेस, गोरखपुर, प्रथम एवं सामान्य संस्करण सं.2075, बालकांड 63/4, पृ. 71

16. कवितावली, गीता प्रेस, गोरखपुर, पचपनवाँ पुनर्मुद्रण संस्करण सं. 2070, उत्तरकांड 183, पृ. 160

17. रामचरितमानस, गीता प्रेस, गोरखपुर, प्रथम एवं सामान्य संस्करण सं.2075, उत्तरकांड 21/2, पृ. 754

18. उपर्युक्त, अयोध्याकांड 243/3, पृ. 448

19. उपर्युक्त, उत्तरकांड 29/2, पृ. 760

20. उपर्युक्त, बालकांड 52/4, पृ. 64

21. उपर्युक्त, अयोध्याकांड 219/2, पृ. 431

22. तुलसीदास का काव्य–विवेक और मर्यादाबोध, कमलानंद झा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2017, पृ. 100

23. कवितावली, सं. सुधाकर पाण्डेय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2016, उत्तरकांड 73, पृ.137

24. उपर्युक्त

25. उपर्युक्त, उत्तरकांड 96, पृ. 151

26. उपर्युक्त

27. हनुमानबाहुक, गीता प्रेस, गोरखपुर, छंद 30, पृ. 44

28. भक्ति आंदोलन और काव्य, गोपेश्वर सिंह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2017, पृ. 122

29. भक्ति आंदोलन और भक्ति–काव्य, शिवकुमार मिश्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, द्‌वितीय आवृत्ति 2015, पृ. 233

❑❑

मोहन राकेश कृत कहानी 'मलबे का मालिक' का शैलीगत अध्ययन

(चयन एवं विचलन के विशेष संदर्भ में)

—तृष्णा दत्त

प्रस्तावना :

सामान्य भाषा में शैली भाषिक अभिव्यक्ति का वह विशेष तरीका है जो प्रयोक्ता के व्यक्तिगत, विषय, काल, विधा साहित्यिक धारा से संबंध होता है। जिस तरह हर मुनष्य देखने में अलग-अलग होता है, ठीक उसी तरह हर लेखक की अभिव्यक्ति का तरीका भी अलग-अलग होता है जिसे लेखक की अपनी शैली कहा जाता है। शैली के वैज्ञानिक अध्ययन को शैली विज्ञान कहा जाता है। शैली विज्ञान प्रायोगिक भाषाविज्ञान के अंतर्गत आता है। शैली विज्ञान साहित्य के कलात्मक और सर्जनात्मक प्रयोगों का अध्ययन करता है। जिस विवेचनात्मक पद्धति को विज्ञान अपने माध्यम के रूप में अपनाता है, कला उससे थोड़ी पृथक प्रस्तुतीकरण की अभिव्यक्ति का सहारा लेती है। अभिव्यक्ति पद्धति के आधार पर साहित्य के अध्ययन-विश्लेषण की वैज्ञानिक विश्लेषण के प्रमुख उपकरण चयन और विचलन के आधार पर हिंदी साहित्य जगत के महान साहित्यकार मोहन राकेश जी के द्वारा रचित कहानी 'मलबे का मालिक' का शैलीगत विश्लेषण किया गया है।

चयन के संदर्भ में 'मलबे का मालिक' कहानी का शैलीगत विश्लेषण :

चयन शैलीवैज्ञानिक विश्लेषण का एक मुख्य उपकरण है। चयन का अर्थ है किसी भाषा में प्राप्त एकाधिक इकाईयों में से अपनी अभिव्यक्ति के लिए किसी एक को चुन लेना। चयन की यह प्रक्रिया हर भाषिक इकाईयों पर अपनाई जाती है। चयन प्रक्रिया के अनेक प्रकार होते हैं, जिसे लेखक अपनी अभिव्यक्ति के लिए अपनाते है। जैसे-

(क) ध्वनि-चयन: साहित्यिक भाषा में ध्वनियों का चयन नहीं होता, अपितु लेखक अपनी रचना के अनुकूल ध्वनि के प्रभाव तथा विशिष्ट भावों से उनके संबद्ध होने के आधार पर विशिष्ट

ध्वनियुक्त शब्दों का चयन होता है। केवल इसी अर्थ में ध्वनि चयन की बात साहित्यिक भाषा के क्षेत्र में की जाती हैं। प्रसंगानुरूप मोहन राकेश जी के द्वारा रचित कहानी 'मलबे का मालिक' में कहानीकार ने कोमल और कठोर दोनों प्रकार की ध्वनियों का चयन अपनी अभिव्यक्ति के लिए किया है। इसमें कहानीकार ने घोष और अघोष तथा अल्पप्राण और महाप्राण आदि सभी प्रकार के ध्वनियुक्त शब्दों का चयन किया है। लेकिन विशेषता यह है कि कोमल भावों के प्रकाशन के लिए अल्पप्राण और अघोष ध्वनियों से युक्त शब्दों का ही अधिकतर प्रयोग किया गया है। 'मलबे का मालिक' कहानी में विभिन्न ध्वनियों से युक्त शब्दों का कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

(1) घोष ध्वनियुक्त शब्द : बाजार, नमकीन, आदि।
(2) अघोष ध्वनियुक्त शब्द : खुशी, काबू, खामोशी, सहारा, चीखता आदि।
(3) अल्पप्राण ध्वनियुक्त शब्द : कुत्ता, कबूतर, चिलम आदि
(4) महाप्राण ध्वनियुक्त शब्द : झटककर, फड़फड़ाता, गुर्राने आदि।

(ख) शब्द-चयन : शब्द-चयन की दृष्टि से 'मलबे का मालिक' नामक कहानी में समय, पात्र, स्थान, शब्दकोशीय एवं व्याकरणिक कोटियों के आधार पर विचार किया जा सकता हैं। इस कहानी में कहानीकार मोहन राकेश जी ने अधिकतर मुसलमान पात्र ही रखे हैं। इसमें जिस जगह को केंद्र में रखा गया है, वह है अमृतसर और जिस समय के बारे में बताया है वह समय है भारत-पाक विभाजन के सात साल के बाद का समय। उसके अनुसार इसमें अरबी-फारसी और हिंदी शब्दों का चयन करना अत्यंत स्वाभाविक बात है। इसमें प्रयुक्त शब्दावली में संस्कृत, देशज, विदेशी आदि शब्दों का प्रयोग भी किया गया है। इसमें कुल मिलाकर 40 शब्द फ़ारसी भाषा से चयन किए गए हैं, जिसमें से कुछ प्रमुख शब्द हैं- जिंदा, जमीन, नेक, जबान, दीवार, अफ़सोस, रोज, शार्गिद, मगर, वापस, आदि।

इस कहानी में कुल मिलाकर 45 शब्द आरबी भाषा से लिये गए हैं, जिसमें से कुछ प्रमुख अरबी शब्दों का उदाहरण हैं- ख्याल, मकान, नज़र, वक्त, काफी, मुताबिक, हालात, वल्लाह, तरफ, नुस्खे, खैर, अजीब, जमाने, जिस्म, कसम, मुहब्बत, नौबत आदि।

प्रस्तुत कहानी में अरबी-फ़ारसी शब्दों के अतिरिक्त भी ग्यारह संस्कृत से आये तत्सम शब्द हैं, जैसे- आग, विदा, अक्सर, बरस, कौर आदि। इसके आलावा भी एक पुर्तगाली शब्द 'अलमारियाँ' और एक लैटिन भाषा का शब्द 'कमरा' और एक ब्रजभाषा का शब्द 'गाढ़' का प्रयोग भी शब्द-चयन के लिए किया है।

(ग) रूप-चयन : साहित्य में रूप की दृष्टि से चयन की बहुत अधिक गुंजाइश नहीं होती, क्योंकि व्याकरणिक रूप सीमित प्रकार के होते हैं। 'मलबे का मालिक' नामक कहानी में मुख्यत: निम्नलिखित प्रकार के रूपों में चयन मिलता हैं— (क) आदेश के रूप में : मुख्यत: इस कहानी में जा, जाओ, जाइए, आ, आओ, आइए, ला, लाओ, लाइए, देख, देखो, देखिए आदि आदेश के रूपों

में प्रयुक्त हुए हैं। इनमें 'तू' के लिए जा, आ, देख, ला, आदि का प्रयोग हुआ है और 'तुम' के लिए जाओ, लाओ, देखो, आदि का प्रयोग हुआ है और 'आप' के लिए जाइए, देखिए, आइए, लाइए आदि का प्रयोग हुआ है।

(ख) भाववाचक संज्ञा के रूप में : इस कहानी में 'ता', 'य', 'व' आदि प्रत्ययों के योग से भाववाचक संज्ञा का रूप प्रस्तुत किया गया हैं, जैसे- आत्मीयता, निकटता आदि।

(घ) वाक्य-चयन : भाषा में वाक्य-रचना के स्तर पर सबसे ज्यादा चयन की गुंजाइश होती है। वाक्य रचना के स्तर पर विभिन्न प्रकार के लेखकों तथा स्थितियों में शैलीय भेद मिलता है, क्योंकि हर लेखक अलग-अलग प्रकार के वाक्य चयन करता है। रचना की दृष्टि से वाक्य तीन प्रकार के होते हैं- सरल वाक्य, मिश्र वाक्य और संयुक्त वाक्य। सांखिक्यीय विश्लेषण करने से यह ज्ञात हुआ है कि 'मलबे का मालिक' नामक कहानी में कुल 254 वाक्य हैं। जिनमें से मिश्र वाक्यों की संख्या सबसे ज्यादा हैं। मिश्र वाक्य के कुछ प्रमुख उदाहरण निम्नलिखित हैं–

1. हॉकी का मैच देखने का तो बहाना ही था, उन्हें ज्यादा चाव उन घरों और बाजारों को फिर से देखने का था, जो साढ़े सात साल पहले उनके लिए पराए हो गए थे।
2. उनकी आँखें इस आग्रह के साथ वहाँ की हर चीज को देख रही थीं, जैसे वह शहर साधारण शहर न होकर एक अच्छा-खासा आकर्षण केंद्र हो।
3. बाजार बांस की वह आग अमृतसर की सबसे भयानक आग थी, जिससे कुछ देर के लिए तो सारे शहर के जल जाने का अंदेशा पैदा हो गया था।
4. रक्खे ने सीधा होने की चेष्टा की, क्योंकि उसकी रीढ़ की हड्डी दर्द कर रही थी।
5. लकड़ी के रेशों के साथ एक केंचुआ भी नीचे गिरा, जो गनी के पैर से छः - आठ इंच दूर नाली के साथ लगी ईंटों की पटरी पर सरसराने लगा।

इसमें मिश्र वाक्य के अतिरिक्त संयुक्त वाक्य भी काफी मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं, जिसमें से कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं–

1. कुछ लोग अब भी मुसलमानों को आते देखकर आशंकित से रास्ते से हट जाते, जबकि दूसरे आगे बढ़कर उनसे बगलगीर होने लगते हैं।
2. गनी भी बाँहें फैलने को हुई, परंतु पहलवान पर कोई प्रतिक्रिया न देखकर उसी तरह रह गईं।
3. उसने गली के बाहर की बंद दुकान के तख्ते का सहारा ले लिया और टोपी फिर से सर पर लगा ली।
4. गली में कुछ बच्चे कीड़ी-कीड़ा खेल रहे थे और कुछ अंतर पर दो स्त्रियाँ ऊँची आवाज में चीखती हुई एक-दूसरी को गालियाँ दे रही थीं।

प्रस्तुत कहानी के लिए कहानीकार ने मिश्र वाक्य और संयुक्त वाक्य के अतिरिक्त सरल वाक्य का भी चयन किया हैं। जिसमें से कुछ प्रमुख उदाहरण हैं—

1. पहलवान उन दिनों गली का बादशाह था।
2. मनोरी ने उसके चेहरे का बदला हुआ रंग देखा।
3. पहलवान ने संदेहपूर्ण दृष्टि से उसका ऊपर से नीचे तक जायजा लिया।
4. पहलवान ने एक ढेला उठाकर कुत्ते की ओर फेंका।
5. उसके गले की नसों में तनाव आ गया था।

अर्थ की दृष्टि से वाक्य आठ प्रकार के होते हैं, जैसे- विधानसूचक वाक्य, निषेधसूचक वाक्य, आज्ञासूचक वाक्य, प्रश्नसूचक वाक्य, संदेहसूचक वाक्य, विस्मयसूचक वाक्य, इच्छासूचक वाक्य, संकेतसूचक वाक्य। प्रस्तुत कहानी 'मलबे का मालिक' के सार्थक अभिव्यक्ति के लिए मोहन राकेश जी ने इन सभी प्रकार के वाक्यों का प्रयोग किया है। लेकिन इनमें से सबसे ज्यादा विधानसूचक वाक्यों का ही चयन किया हैं। कुल मिलाकर इसमें 24 प्रश्नसूचक वाक्यों का प्रयोग हुआ हैं, उदाहरणतया उनमें से कुछ प्रमुख वाक्य हैं—

1. तू बता, रक्खे, यह सब हुआ किस तरह?
2. वह मलबा उसका कैसे है?

इस कहानी में मोहन राकेश जी ने 25 विस्मयसूचक वाक्यों का प्रयोग भी किया है, जैसे—

1. चिराग उसका छुरेवाला हाथ पकड़कर चिल्लाया, 'न रक्खे पहलवान, मुझे, मुझे मत मार! हाय! कोई मुझे बचाओ।'
2. 'ओ, गनी मियाँ!' मनोरी ने पहचानकर कहा।

इसी तरह इस कहानी में कुल 23 निषेधसूचक वाक्य, 11 संदेहसूचक वाक्य, 28 संकेतसूचक वाक्य, और 7 इच्छासूचक वाक्यों का प्रयोग भी हुआ है। प्रस्तुत कहानी के संदर्भ में वाक्य-चयन की दृष्टि से एक उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें कहानीकार ने 37 वाक्यों में '..................' शैली का प्रयोग करके एक वाक्य को दूसरे वाक्य से संयोजित किया है।

(ङ) अर्थ-चयन : साहित्यकार अर्थ-चयन इस दृष्टि से करता है कि वह अपनी बात अभिधार्थ द्वारा कहे अथवा लक्ष्यार्थ द्वारा या व्यंग्यार्थ द्वारा कहे। अर्थात् वह अभिव्यक्ति के माध्यम का चयन करता है। 'मलबे का मालिक' नामक कहानी में भी कहानीकार मोहन राकेश जी ने इसके लिए अभिधार्थ का ही चयन किया है। व्यंग्यार्थ का प्रयोग इस कहानी में कहीं भी नहीं किया है। इसमें अभिधार्थ, द्वारा यथार्थ का वर्णन बहुत ही सटीक तरीके से किया है।

(च) सर्वनाम-चयन : सांख्यिकीय विश्लेषण के आधार पर कुल 284 सर्वनामों का प्रयोग इस कहानी में किया गया हैं। जिसमें पुरुषवाचक सर्वनामों की संख्या 17 हैं। इनमें से उत्तम पुरुषवाचक सर्वनाम २०, मध्यम पुरुषवाचक सर्वनाम 23, और अन्य पुरुषवाचक सर्वनाम 54 का प्रयोग हुआ हैं। इस कहानी में प्रश्नवाचक 'कैसे', 'क्या', 'कहाँ', का प्रयोग कुल छः बार हुआ हैं, इसमें से 'कैसे' की दो बार आवृत्ति हुई है। अनिश्चयवाचक सर्वनाम 'कुछ', 'कोई', 'कई' का कुल आठ बार प्रयोग किया गया हैं। 'कुछ' की तीन-तीन बार आवृत्ति हुई हैं। सबसे ज्यादा संबंधवाचक सर्वनामों का प्रयोग हुआ है, जो इस प्रकार है- 'जो' का पाँच बार, 'सो' का एक बार, 'जिस' का सात बार, प्रयोग हुआ है। उस सर्वनाम का कारकसहित रूप जैसे- उसका, उसकी, उससे, उसमें आदि के रूप में एक सौ इक्कीस बार प्रयोग हुआ हैं।

(छ) विशेषण-चयन : प्रस्तुत कहानी 'मलबे का मालिक' में सभी प्रकार के विशेषणों का सटीक प्रयोग किया गया है। इसमें कुल मिलाकर 205 विशेषण शब्दों का प्रयोग किया गया हैं। सबसे ज्यादा गुणवाचक विशेषणों का प्रयोग हुआ हैं, कुल 127 गुणवाचक विशेषण बोधक शब्दों का प्रयोग हुआ हैं, जिनमें से कुछ गुणवाचक विशेषण शब्द इस तरह हैं— 'कम', 'लाल', 'नमकीन', 'हिम्मत', 'भयानक', 'नीचे', 'वीरान', 'दुबला', 'अफ़सोस', 'हैरान' आदि। इस कहानी में प्रयोग किये गए संख्यावाचक विशेषणों की कुल संख्या 42 हैं। जिसमें से निश्चयात्मक संख्यावाचक विशेषणों की संख्या तीस हैं, जैसे- 'साढ़े सात साल', 'सिर्फ दो', 'एक-एक घर', 'दो स्त्रियाँ' आदि। और, अनिश्चयात्मक विशेषणों की संख्या बारह हैं, जैसे- 'काफी, संख्या, लोग', 'कई इमारतें', 'कुछ बच्चे', 'कई चेहरे' आदि। इसमें परिमाण वाचक इन सबके अतिरिक्त भी सार्वनामिक विशेषणों का भी प्रयोग हुआ है। जिसकी संख्या 11 हैं, जैसे- 'वह मलबा', 'उस बाजार', 'वह शहर' आदि।

विचलन के संदर्भ में 'मलबे का मालिक' कहानी का शैलीगत विश्लेषण:

चयन की तरह ही विचलन भी शैलीविज्ञान का एक प्रमुख उपकरण है। भाषा के सामान्य नियम, बंधन, चलन अथवा पथ को छोड़कर नए का अनुसरण करना, नए पथ पर चलना ही विचलन है। विचलन भाषा के ध्वनि, रूप, वाक्य, वर्तनी, लेखन आदि सभी आयामों पर हो सकता है। भाषा में विचलन हमेशा साभिप्राय और उद्देश्य रहित होना चाहिए। मूलतः सर्वोत्तम विचलन वही है जो या तो कुछ अतिरिक्त कहे या फिर रचना के मूल स्वर को रेखांकित करे। भाषा प्रयोग के विशिष्ट नियम होते हैं। प्रत्येक लेखक उन नियमों का पालन करके अपनी अनुभूतियों को व्यक्त करते हैं। लेकिन जब नियमबद्ध भाषा में अपनी अनुभूतियों को व्यक्त कर पाना मुश्किल हो जाता तब लेखक अभिव्यक्ति के लिए भाषिक नियमों का अतिक्रमण करके विचलन का सहारा लेता है। प्रस्तुत कहानी 'मलबे का मालिक' में भी कहानीकार मोहन राकेश जी ने अपने विशिष्ट भावों को अभिव्यक्ति देने के लिए कुछ भाषिक नियमों का अतिक्रमण किया है, जिसे ध्वनि-विचलन, क्रम-विचलन, विशेषण-विचलन आदि के स्तर पर देखा जा सकता हैं—

(क) ध्वनि-विचलन :

ध्वनि की दृष्टि से भाषा के प्रचलित शब्दों में परिवर्तन कर देना ही ध्वनि-विचलन है। 'मलबे का मालिक' कहानी में भी कहानीकार ने भाषा में प्रचलित कुछ शब्दों में ध्वनि की दृष्टि से परिवर्तन कर दिया है। यह परिवर्तन उन्होंने कथ्य को बल देने के लिए किया है। इस कहानी में कुल मिलाकर आठ स्थान पर ध्वनि-विचलन हुआ हैं। जो इस प्रकार है—

1. 'उसे धक्के दे-देकर हटाने लगा- **तत्-तत्-तत्-तत्।**'
2. रात की खामोशी के साथ मिली हुई कई तरह की हल्की-हल्की आवाजें मलबे की मिट्टी में से निकल रही थीं **.... च्यु-च्यु-च्यु .... चिक-चिक-चिक ..... चिररर .... इररर- री री री री .... चिरररररर।**'
3. 'ओ किश्वर ! ओ सुल्ताना! हाय मेरे बच्चे **ओए** sss**....!**'
4. 'पहलवान ने उसे हटाने के लिए भारी आवाज में बोला- **दुर-दुर-दुर....दुर।**'
5. 'मगर कुत्ता और पास आकर भौंकने लगा- **वउ-अउ-वउ-वउ-अउ।**'
6. 'जी हल्का न कर, **रक्खिआ** ! जो होनी थी सो हो गई।'
7. हे प्रभु **सच्चिआ,** तू ही है, तू ही है, तू ही है।'
8. दो बारह-तेरह **बरस** की लडकियाँ किसी बात पर एक-दूसरी से गुत्थम-गुत्था हो गईं।

स्पष्ट है उपरोक्त वाक्यों में पहले उदाहरण में 'हट' के बदले 'तत्' का प्रयोग किया गया है, ताकि पाठक को समझ में आये की रक्खे पहलवान को मलबे में किसी और की भैंस को देखकर कितना गुस्सा आया था और उसे हटाने के लिए 'हट' की ध्वनियों का परिवर्तन करके 'तत्' कर दिया। दूसरे उदाहरण में मलबे की मिट्टी से निकली आवाज पर जोर देने के लिए ध्वनि-विचलन किया गया है। तीसरे उदाहरण में 'ओए' शब्द पर जोर देने के लिए, जिससे गनी मियाँ जी के दुःख के प्रभाव को विस्तार देने के लिए ध्वनि-विचलन किया गया है। इसी तरह देखा गया है कि कथ्य पर बल तथा जोर देने के लिए ही कहानीकार ने कहानी में ध्वनि-विचलन का प्रयोग किया है।

(ख) क्रम-विचलन :

क्रम-विचलन का संबंध वाक्य-विन्यास तथा शब्द कोटियों के नियमों से है। प्रत्येक भाषा में वाक्य के क्रम-विन्यास संबंधी कुछ नियम होते हैं, जिनका पालन करना अपेक्षित होता है, परंतु साहित्यिक भाषा में सर्जक प्रायः इस काम में परिवर्तन कर देता है। यह परिवर्तन साभिप्राय होता है। 'मलबे का मालिक' कहानी में भी कहानीकार ने क्रम-विचलन के दस प्रयोग किये हैं। जिनमें से कुछ प्रमुख उदाहरण हैं—

1. गली से एक बच्चा रोता हुआ बाहर को आ रहा था।
2. इधर आ बेटे, आ इधर! देख तुझे चिज्जी देंगे, आ।

3. तू बता, रक्खे, यह सब हुआ किस तरह?

4. वह था तुम्हारा मकान।

(ग) सहप्रयोग-विचलन :

भाषाओं में हर शब्द का प्रयोग हर शब्द के साथ नहीं हो सकता है। शब्दों के सहप्रयोग सीमित होते हैं। सहप्रयोग के नियम विश्व की हर भाषाओं में मिलते हैं, जो तर्कसम्मत है। लेकिन अन्य सहप्रयोग वे होते हैं जो भाषा विशेष में परंपरागत प्रयोग के कारण रूढ़ हो जाते हैं और जिनका कुछ तर्कसम्मत आधार नहीं होता। जैसे-हिंदी में भोजन क्रिया के साथ करना क्रिया का सहप्रयोग है। साहित्यिक भाषा में मुख्यत: तर्कसम्मत सहप्रयोग का भी विचलन मिलता है। 'मलबे का मालिक' कहानी में भी इस प्रकार का सहप्रयोग-विचलन किया गया है। जैसे—

1. मैंने कहा कि एक बार **मकान सूरत** ही देख लूँ।

2. लोगों को लग रहा था कि वह **मलबा** ही गनी को सारी **कहानी सुना देगा**।

3. जिससे कुछ देर के लिए तो सारे शहर के जल जाने का **अंदेशा पैदा हो गया**।

उपरोक्त विश्लेषण के बाद सिर्फ यह ही कहा जा सकता है कि मोहन राकेश जी को 'मलबे का मालिक' नामक कहानी शैलीविज्ञान के उपकरण चयन और विचलन की दृष्टि से बहुत ही सार्थक और सटीक प्रयोग वाली है। जिससे कहानी में संवेदना प्रभावशाली और मर्मस्पर्शी रूप में अभिव्यक्त हुई है।

संदर्भ :

1. सं. तिवारी, बालेन्दु शेखर, नागर-कथाएँ, अमन प्रकाशन, कानपुर, 2013,

2. तिवारी, भोलानाथ, शैलीविज्ञान, शब्दकार प्रकाशन, दिल्ली, 1997,

3. पांडेय, शशिभूषण, शीतांशु, शैलीविज्ञान, प्रतिमान और विश्लेषण, देवदार प्रकाशन, दिल्ली, 1994,

4. कुमार, सुरेश, शैलीविज्ञान, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2011

❑❑

नरेश मेहता : आधुनिक हिंदी कविता का गुमनाम कवि

—मयंक मिश्रा

कहा जाता है कि पुरस्कार प्रसिद्धि का द्योतक होता है। हिंदी साहित्य जगत के दो शीर्ष पुरस्कार हैं— ज्ञानपीठ पुरस्कार और साहित्य अकादमी पुरस्कार। एक साहित्यकार के लिए ज्ञानपीठ पुरस्कार मिलना अर्थात सागर मंथन से प्राप्त सुधा की प्राप्ति होना जैसा है। किसी भी पुरस्कार की प्राप्ति सहज और अनायास नहीं होती है। लेखक की संवेदना, मानवीय मूल्य, नैतिक यथार्थ, समाज के विघटन, उसकी विद्रूपताएँ-विसंगतियाँ तथा सत्ता की बर्बरता एवं दुर्निवार पक्षों को दुस्साहस के साथ लेखनी में घोलना पड़ता है।

नरेश मेहता इन सभी पक्षों का समावेश कर इन्हें परंपरा, संस्कृति, धर्म, दर्शन, इतिहास, पौराणिकता, प्रकृति तथा मिथकीय तत्वों से जोड़ते हैं तथा आधुनिकता के आवरण में छुपे आज के तत्कालीन जीवंत तथा सूक्ष्म समस्याओं की पड़ताल करते हैं। इन्हें पता है कि भारत की जनता परंपरा-संस्कृति से अभिन्न रूप से जुड़ी है। आधुनिकता के ढोल-नगाड़े इनकी जड़ों का उन्मूल्य नहीं कर सकते हैं तथापि पौराणिक कथाओं, इतिहास, मिथकीय-तत्व, प्रकृति, धर्म, दर्शन आदि के माध्यम से आधुनिक युग के परिदृश्य को पारदर्शी रूप में सामने रखते हैं तथा उन्हीं के माध्यम से वर्तमान युग का हाल सुनते हैं। साहित्य की हर विधा में कर्तव्यनिष्ठा के साथ रचनाधर्मिता से संबंद्ध होकर इन्होंने सर्जना की है। कविता, उपन्यास, कहानी, निबंध, आलोचना, यात्रा, वृत्तांत, संपादन आदि सभी क्षेत्रों में गर्व के साथ आपने महती भूमिका अदा की है।

इन सब अपरिहार्य क्षमताओं और योग्यताओं के बावजूद हिंदी साहित्य में वे एक गुमनाम लोकप्रिय साहित्यकार हैं। क्यों और कैसे? इसका उत्तर लेख के बीच ही सूत्र के रूप में पिरोए मिलेंगे।

हर साहित्यकार मूलत: किसी एक विधा का स्वामी होता है। अर्थात जिस विधा में वह अपनी छाप छोड़ता है, उसी विधा में वह लोकप्रिय होता है और उसी विधा से संलग्न कर पाठक वर्ग उसे जानता-पहचानता है। नरेश मेहता मूलत : कवि थे, किंतु उनकी कविता-निधि एवं उपन्यास-रत्नाकर

का अनुशीलन कियाा जाए तो यह कहना जरा मुश्किल होगा कि मूलत: वे कवि थे या उपन्यासकार। इनके व्यक्तित्व से इन दो तत्वों को अलगाना ठीक वैसा ही है जैसे वायु से नाइट्रोजन और ऑक्सीजन अलगाना। हालाँकि अपने अंतिम क्षणों तक वे स्वयं को कवि ही मानते रहे।

इनके प्रमुख काव्य-संग्रह 'दूसरा सप्तक', 'वनपाखी सुनो', 'बोलने दो चीर को', मेरा समर्पित एकांत', 'उत्सवा', 'तुम मेरा मौन हो', 'अरण्या', 'आख़िर समुद्र से तात्पर्य', 'पिछले दिनों नंगे पैरों', 'देखना एक दिन' और चैत्या' हैं।

इस सभी काव्य-संग्रहों में नरेश मेहता की सर्जनात्मक क्षमता शनै: शनै: प्रकति, प्रेम, विराट प्रेम, साहित्य, भाषा, मानवता एवं लोकपक्षों को समेटते हुए पूरे साहस और ज़िंदादिली के साथ प्रबलतर होती गई है। इस के साथ ही उत्तर-आधुनिकता की तह से निकले सभी 'वाद एवं विमर्श' को रचनाओं के माध्यम से उसके दुष्परिणाम एवं उपयोगिता को भी इंगित किया है।

कहा जाता है कि मनुष्य जब कवि बनने की प्रक्रिया से गुजरता है और इसी प्रक्रिया के प्रथम पड़ाव में जब वह कविता रचता होता है, तो वह कविता 'प्रेम' की कविता के रूप में उभरती है। संभवत: वह तरुण वय: में उपजने वाला तरल एवं मोहक प्रेम है जिसके आकर्षण से हृदय के कपाट स्वत: ही खुल जाते हैं।

किंतु नरेश मेहता के प्रथम काव्य-संग्रह (दूसरा सप्तक) के "किरन धेनुएं" कविता में ग्राम एवं उसमें उद्‌भूत नैसर्गिक प्रकृति का अद्‌भुत समन्वय है।

ग्रामीण-जीवन के भोर की बेला का यह विहंगम दृश्य द्रष्टव्य है:—

"बरस रहा आलोक-दूध है
खेतों खलिहानों में
जीवन की नव किरण फूटती
मकई और धानों में।"[1]

इसी क्रम में कुछ और उद्‌धरण पर दृष्टिपात हो:—

"अमराई में दमयंती सी
पीली पूनम काँप रही है
अभी गई-सी गाड़ी के
बैलों की घंटी बोल रही है।"[2]

इन दृष्टांतो से यह साफ़ परिलक्षित होता है कि नरेश मेहता का ग्राम और प्रकृति प्रेम, वैयक्तिक प्रेम से आगे था, शुरुआती क्षणों में।

आधुनिक हिंदी कविता में 'नई कविता एवं प्रयोगवाद' के काल से ही नवीन उपमाओं के प्रयोग का कारवां आगे बढ़ने लगा था। 'कलगी बाजरे की' में अज्ञेय ने पारंपरिक उपमाओं को दरकिनार कर नए उपमाओं को प्रश्रय दिया।

किंतु, इसके पीछे का कारण क्या था, यह समझना और जानना अत्यावश्यक है। "दूसरे तार-सप्तक" की भूमिका में 'अज्ञेय' ने कहा है:—

'हम कहते हैं 'गुलाबी' और उससे हमें एक विशेष रंग का बोध होता है। निस्संदेह इसका अभिप्राय है गुलाब के फूल जैसा रंग, यह उपमा उसमें निहित है। पर अब वैसा नहीं है। अब इस अर्थ का चमत्कार मर गया है, अब वह अभिधेय हो गया है। चमत्कार मरता है और चमत्कारिक अर्थ अभिधेय बनता रहता है।"[3]

इसी कारण अज्ञेय, शमशेर बहादुर सिंह और नरेश मेहता उस चमत्कार के श्वास को बचाये रखने हेतु नए-नए उपमाओं को प्रयोग करते रहे हैं।

शमशेर बहादुर की एक कविता है 'उषा'। आधुनिक हिंदी कविता में प्रयोग की दृष्टि से यह काफ़ी चर्चित है। कविता कुछ इस प्रकार है:—

"प्रात: नभ था बहुत नीला शंख जैसे
भोर का नभ
राख से लीपा हुआ चौका (अभी गीला पड़ा है)
बहुत काली सिल ज़रा से लाल केशर से
कि धुल गई हो
स्लेट पर या लाल खड़िया चाक
मल दी हो किसी ने
नील जल में या किसी की
गौर झिलमिलाहट देह
जैसे हिल रही हो
और ......
जादू टूटता है उस उषा का
अब सूर्योदय हो रहा है।"[4]

बेशक यह कविता रंगों के साथ प्रकृति के अद्भुत एवं रोचक मेल को प्रतिपादित करती है, जो गाँव के चौके को नए ढंग से परिभाषित करती है।

अब नरेश मेहता की 'किरन धेनुएँ' की काव्य-पंक्तियों पर गौर करें:—

"उदयाचल से किरन-धेनुएँ
हाँक ला रहा वह प्रभात का ग्वाला
पूँछ उठाए चली आ रही
क्षितिज जंगलों से टोली

दिखा रहे पथ इस भूमा का
सारस सुना–सुना बोली
गिरता जाता फेन मुखों से
नभ में बादल बन तिरता
किरन–धेनुओं का समूह यह
आया अंधकार चरता।"[5]

इन दोनों कविता के बिंब का आकलन किया जाए तो दोनों गाँव की सुबह के दृश्य को प्रस्तावित करता है। पहली कविता में ऐंद्रिक रंगों का महत्व है तो दूसरी में नैसर्गिक प्रकृति का। किंतु बिंब के सहज महत्व को शमशेर ने रुक्ष कर दिया है। नीले नभ को शंख से तुलना कर बिंब असहज सा प्रतीत होता है। चमत्मकार का प्रयोग अत्युक्ति की सीमा तक जा पहुँचा है।

आसमान , शंख जैसा ? ? ?

वहीं 'किरन–धेनुएँ' कविता में ग्राम के प्राकृतिक दृश्यों में बराबर समानता एवं नैसर्गिकता विद्‌यमान है। बिंब एवं उपमाओं में कार्य–कारण का भी सहज समन्वय हो रहा है।

इससे इतर अलग कलेवर की प्रगतिशीलता और तत्कालीन राजनीतिक परिदृश्य को उकेरती उनकी इस 'अंततः' कविता पर दृष्टिपात किया जाएः—

"वे तब भीड़ में भी हुआ करते थे–
शेरवानी और पायजामे में
फिर वे होते गए
मंच की सीढ़ियों पर तेज–तेज चढ़ती
साड़ी में से उझकी हुई
राजसी एड़ियाँ
और फिर—
गोलियों से रक्षित शीशे वाले मंच पर पहुँचकर
मीलों दूर बैठाई गई जनता के लिए
बुलेट प्रूफ़ जैकेट में
अंततः राष्ट्र को समर्पित
एक राजकीय नमस्कार हो गए"[6]

आज की परिस्थित को यथावत बयां करती है यह कविता। जनता के छद्‌म प्रतिनिधि (राजनेता) शेरवानी और पायजामे में जनता के बीच शामिल होते हैं। किंतु जनता को उस के कीमती पोशाक पर नज़र नहीं जाती। उस पोशाक को गौण कर लोग उसके मुखोद्‌धृत वचनों को सुनने में व्यस्त हैं। आज हमारा नेता कुछ इसी तरह जनता के बीच पैठ बना चुका है। लाखों का सूट पहनकर

जनता के पैसों से राजसी वैभव का आनंद उठा रहा है और लोगों के बीच बेरोजगारी के प्रसाद बाँटता फिर रहा है।

आज के संदर्भ में यह कविता अत्यंत प्रासंगिक हो उठी है। इस कविता का महत्व आज के संदर्भ में प्रासंगिक है।

अब आते हैं कुछ ऐसी कविताओं पर जिनका हिंदी जगत में अन्यतम नाम है। इस श्रेणी में केदारनाथ सिंह की 'हाथ' कविता अग्रगण्य है। एक वाक्य में कहा जाए तो 'हाथ' को प्रतीक बनाकर लिखने वाली कविताओं में केदारनाथ सिंह अप्रतिम ठहरते हैं।

पेश है केदारनाथ सिंह की 'हाथ' कविता:—

"उसका हाथ
अपने हाथ में लेते हुए मैंने सोचा
दुनिया को
हाथ की तरह गर्म और सुंदर होना चाहिए"[7]

मानवता एवं प्रेम की अक्षुणता को नए सिरे से परिभाषित करती यह कविता प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में अवस्थित है। दुनिया को संवेदना, मानवीयता, प्रेम, भावनात्मकता ही जोड़े रख सकती है, इसका आधार एक हाथ का कोमल स्पर्श है। जिससे कवि को यह भान होता है। कि एक स्पर्श से जीवन कितना आनंदमय और सुखमय हो सकता है।

कल्पना और प्रेम का अनूठा संगम है यह कविता जहाँ इंसानियत उत्तुंग शिखर पर अवस्थित है।

किंतु आज की सच्चाई से रुबरु कराती नरेश मेहता की 'सिर्फ़ हाथ' कविता की बारीकियों पर नज़र डाली जाए:—

"इधर वह
कई दिनों से मनुष्य नहीं था
तभी तो—
जब भी मिला
जहाँ भी मिलाा
असुविधा के साथ ही कुछ–कुछ मिला
कुछ–कुछ नहीं मिला
जब भी दिखा, जहाँ भी दिखा
गर्म जेब को छुपाते, आँखें चुराते
कुछ–कुछ दिखा कुछ–कुछ नहीं दिखा
आख़िरकार एक दिन पूछ ही बैठा,

क्यों भाई, कितने दिनों से मनुष्य नहीं बन सके हो
प्रश्न सुन थोड़ा हतप्रभ अवश्य हुआ
पर तत्काल अपना सफारी ठीक करते हुए
जीवन की मेरी मध्यकालीन समझ पर
तरस खाते हुए ठहाका लगा, बोला
क्या इन भेड़ियों के झुंड के लिए
मैं ही मेमना हूँ?
जनाब! घर से बाहर मैं मनुष्य नहीं
सिर्फ़ हाथ हूँ, हाथ![8]

इन पंक्तियों से दो महत्वपूर्ण किंतु यथार्थपरक सत्य प्राप्त होते हैं। पहला यह कि प्रेम, भाईचारा, दया, करुणा, परंपरा सहयोग आदि जो भी मनुष्य होने की कसौटियाँ हैं, अब ये जीर्ण हो चुकी हैं। इनकी प्रासंगिकता सिर्फ और सिर्फ मध्यकाल तक ही निमित्त थी। आज मनुष्य होने का पैमाना शोषण, लूट, मक्कारी, भ्रष्टाचार, सांप्रदायिकता, धार्मिक उन्माद हैं। किंतु इनमें भी एक शर्त है। ये सारे निकष दूसरों के लिए निर्धारित हैं। अपने एवं अपने परिवारों के लिए वही प्राचीन कसौटियाँ अब भी क़ायम हैं। संवेदनहीनता और मृतभावना की पराकाष्ठा है, आज का समय।

नरेश मेहता के 'हाथ' उन सारे शोषक, मक्कार और फरेबी के हाथ हैं जो लोगों का शोषण करते हैं। मक्कारी और फरेब से लोगों की भावना से खेलते हैं। सांप्रदायिकता और धार्मिक उन्माद से लोगों में जाति और धर्म का ध्रुवीकरण करते हैं। इस षड्यंत्र में देश के राजनेता से लेकर, छद्मधारी तथा कथित धर्मावलंबियों और बड़े-बड़े कॉरपोरेट्स का 'हाथ' है।

इनकी कविताओं की बगिया से टहलते हुए उत्तर-आधुनिकता से नि:सृत उन विमर्शों से भी सामना होता है जो वर्तमान समय में पैठ जमा चुके हैं और अपनी सार्थकता भी सिद्ध कर रहे हैं। निम्नांकित 'भोगार्चन' कविता पर नज़र डाली जाए:—

"कृष्ण का दर्शन
था, देवदर्शन
गोपिकाओं का दर्शन
है, दूरदर्शन
इस भागवत-कथा का करो
अंतर्राष्ट्रीय स्वादवाली चॉकलेट
से भोगार्चन।"[9]

यहाँ 'गोपिकाएँ' प्रतीक हैं उन महिलाओं और स्त्रियों का जो बाज़ारावाद, और विज्ञापनवाद की जाल में फँसती जा रही हैं। विज्ञापन का दुष्प्रभाव इस कदर बढ़ चुका है कि तमाम सावधानियों

के बावजूद लोग उपभोक्ता बनते जा रहे हैं। फलस्वरूप बाज़ार अपना आकार नित विकराल करता जा रहा है। 'गोपिकाओं का दर्शन' से आश्य है उन स्त्रियों से जो अपने तन के मायाजाल से बाहर नहीं आ पा रही हैं। उन सभी स्त्री-विमर्शों के ज्वलंत प्रश्नों को ताक पर रख रही हैं जो यह संदेश प्रेषित करता रहा है कि 'स्त्रियाँ भोगजनित माँसल प्राणी नहीं हैं'

विज्ञापनवाद का एक उदाहरण द्रष्टव्य है:—

फेयर एंड लवली (fair and lovely) के एक विज्ञापन में दो लड़कियाँ नृत्य कर रही होती हैं। नृत्य पूर्ण होने के पश्चात एक व्यक्ति आता है और उन दो लड़कियों में से एक लड़की को चुनता है और दूसरी लड़की को उस पहली लड़की के पार्श्व में नृत्य करने को कहता है। क्यों? इसलिए क्योंकि सौंदर्य की दृष्टि से दूसरी लड़की का चेहरा पहली लड़की के चेहरे से थोड़ा सा फीका था। ग़ौर करने वाली बात यह है कि नृत्यकला की प्रतिस्पर्धा में चेहरे का महत्व, नृत्य से अधिक कैसे हो सकता है? उसकी प्रतिभा तो उसके नृत्य में है, न कि चेहरे में। विज्ञापन हमें न सिर्फ़ विकृत दृष्टि प्रदान करता है बल्कि मनोवैज्ञानिक तौर पर हतोत्साहित भी करता है। परंतु यह भी उतना ही सच है कि कई स्त्रियाँ इनसे निकलना भी चाहती हैं पर परिस्थिति इतनी बदतर हो चुकी है और बाज़ारवाद का वर्चस्व इस क़दर बढ़ चुका है कि यह संभव नहीं हो पा रहा है। इसी बाज़ारवाद को प्रश्रय दे रहा है 'पूंजीवाद'। बड़ा ही भीषण चक्रव्यूह है जिसे तोड़ने के लिए नरेश मेहता निम्नलिखित 'काली कविता' को सामने रखते हैं:—

"दुनिया की तमाम भाषाओं में
लिखी जा रही है
सिर्फ़ एक कविता
जिसका शीर्षक है।
काली कविता!!
तुमसे ही नहीं
हमेशा से
दुनिया की तमाम सरकारें
व्यक्ति से नहीं
उसकी कविता से डरती आई हैं
क्योंकि कविता हो जाने का मतलब होता है
ईश्वर हो जाना।"[10]

यह कविता दक्षिण अफ़्रीका के लोगों के संघर्षों की गाथा है किंतु वर्तमान दौर में यह कविता पूरे विश्व की समस्याओं का रूपक गढ़ती सी प्रतीत होती है।

"कविता हो जाना ईश्वर हो जाना है" अर्थात लोकतंत्र में लोक का एकीकरण, उनके विचारों का एकीकरण, जिससे एकात्मक स्वरूप प्रगाढ़ होकर सत्ता की क्रूरता और महीन चालों को निरस्त कर सके।

भारत में उपनिवेशवाद का प्रादुर्भाव ब्रिटिशों के शासनकाल में हुआ था। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात उपनिवेशवाद का ख़ात्मा तो हो गया किंतु इसकी जड़ें अब भी हैं। अब यह उपनिवेशवाद विचारों के मार्ग से प्रसूत होकर भाषाई अस्मिता तक फैल चुका है। इस उपनिवेशवादी भाषा पर नरेश मेहता करारा प्रहार करते हुए 'अरण्यानी से वापसी' में कहते हैं:—

"भाषा को दोगला बना देने वाले ये भाषण
भाषा को गाली बना देने वाले ये नारे
अपने स्वत्व और देह से नोच फेंको
जो कि गुदनों की तरह
तुम्हारे शरीर पर गोद दिए गए हैं।"[11]

नरेश मेहता मनुष्यता को सर्वोपरि मानने वाले लेखक हैं। उनके लिये प्रकृति, कविता संवेदना और मनुष्यता एक साझा मिलन है। इनसे अछूता रहकर साहित्य रचना नहीं हो सकती है। इनका 'तादात्म्य' ही साहित्य है:—

"जब भी मैं
फूल, नदी या आकाश पर कविता लिखता हूँ
तो वह मानवीय प्रकरण ही होता है
क्योंकि जब भी मनुष्य की आँखों में आँसू होते हैं
मैंने फूल, नदी, आकाश को रोते देखा है—
इसलिए मेरे लिए न प्रकृति केवल प्रकृति है
और न मनुष्य केवल मनुष्य।"[12]

आज देश की वर्तमान परिस्थितियों में प्रमुख चुनौती के रूप में उभरा है 'मॉब लींचिंग भीड़तंत्र का किसी भी एक व्यक्ति के साथ सामूहिक बलात्कार यहाँ बलात्कार का अर्थ अभिधेय नहीं है बल्कि बलपूर्वक कोई भी कृत्य बलात्कार की परिधि में ही शुमार होगा। किंतु, मॉब लीचिंग अनायास नहीं होता। इसके पीछे की मनोवैज्ञानिकता को नरेश मेहता अपनी कविता 'वह व्यक्ति' के माध्यम से व्यक्त करते हैं:—

"मैंने देखा–
मिट्‌टी के तेल की गंध वाली
तथा राशनकार्ड वाली धुंधली लिखावट में
मुश्किल से कहा जा सकने वाला जीवन लिखा था।
कुछ भी तो उस व्यक्तित्व में
ऐसा नहीं था
जिसे भीड़ से पृथक करके देखा जा सकता था।

उसके दयनीय रूप से झुके कंधों पर
उसके घर-परिवार का ही नहीं
बल्कि पूरे मोहल्ले का बोझ लग रहा था।
मैंने आत्मीय आश्वस्ति के साथ कहा-
क्यों नहीं उतार फेंकते अपने पर से
व्यवस्था की यह दासता?
कब तक भीड़ में संख्या बने रहोगे?
अपने को संज्ञा दो
व्यक्ति बनो।
उसके व्यक्तित्व का सारा ख़ून
उसकी आँखों में उतर आया,
पर वह अबोला ही रहा
और अपनी गली की ओर बढ़ गया।
मुझे उसकी इस विवश विद्रोही कापुरुषता पर ग्लानि हो रही थी
कि तभी
एक तेज़ झनझनाता पत्थर आया
और मुझे लहूलुहान कर गया।
मैंने देखा
उसकी आँखों में, व्यक्तित्व में
तेजाब की गंधवाली
रामपुरिया फलकवाली हिक़ारत की भाषा थी।
शायद भीड़ इस प्रकार व्यक्ति बनती है।"[13]

लोगों की बुनियादी ज़रूरतों को दरकिनार कर जाति, धर्म और समाज के ध्रुवीकरण के तहत उनकी सोच को कुत्सित किया जा रहा है। अशिक्षा, बेरोज़गारी, ग़रीबी जैसे सार्वभौम अपरिहार्य समस्याओं को भुला दिया जाता है।

निश्चत ही यह रणनीति समाज और ख़ासकर युवा-वर्ग को बुरे रूप से प्रभावित करता है।

प्रकृति और भाषा का विलक्षण समन्वय इनकी कविता के द्वारा अनावृत्त होता है। 'सम्राज्ञी का आगमन' कविता में इन पंक्तियों पर ग़ौर फ़रमाया जाए:-

"कैसा है यह प्रकृति का भाषाई उत्साह, कि
पूरा प्रात:काल पाठशाला बन गया है।"[14]

प्रकृति और भाषाई तत्वों के समावेश की यह कविता अपने बिंबों और अभिव्यंजना में कितनी नवीन और सहज बन उठी है। सहज किंतु नवीन बिंबों की परिकल्पन-शक्ति से कविता के नए द्‌वार खोलना नरेश मेहता की एक असाधारण क्षमता है।

किसी भी रचनाकार की मन:स्थिति जानने हेतु उसकी रचनाओं में व्यवहृत शब्दों के समीप जाना चाहिए। शब्द-विन्यास किसी भी लेखक के चरित्र एवं विचारों को जानने का वैज्ञानिक और कारगर माध्यम है। इसलिए कहा गया है कि "शब्द किसी भी व्यक्ति की मानसिकता और विचारों की कुंजी है।"

इनकी प्रारंभिक कविताओं से गुजरते हुए कुछेक शब्द जो सतत प्रयोग हुए हैं, वे शब्द 'भूमा', 'कुंकुम', 'अमराई', 'केसर', 'किरणाश्व', 'आलोक' हैं। इनकी शुरुआती कविताएँ ग्रामीण जीवन एवं उसकी प्रकृति से संबद्‌ध हैं। निश्चय ही बिना किसी उद्‌विग्नता, चिंता और विषाद के सहज रूप में इन शब्दों का लगातार प्रयोग हुआ है।

'मुक्तिबोध : एक अवधूत कविता' में वे खुद कहते हैं:-

"मनुष्य जब निष्पाप रूप में मनुष्य होता है, तब वह अनिवार्य रूप से ग्रामीण होता है।"15

धीरे-धीरे ये शब्द स्वत: ही अलोपित हो जाते हैं और उनकी जगह नया शब्द उस रिक्तता को भरता प्रतीत होता है। यह नया शब्द है- "एकांत" 'दूसरा सप्तक' नाम से जो कवि का पहला काव्यसंग्रह है, के पश्चात अंतिम काव्यसंग्रह 'पिछले दिनों नंगे पैरों' तक एकांत शब्द लगभग हर दो-तीन कविताओं के बाद लगातार व्यवहृत होता चला आया है। इस शब्द के विपुल प्रयोग के मनोविज्ञान को जानने हेतु उनके जीवन पर दृष्टिपात अत्यंत महत्वपूर्ण है। शैशवस्था में ही इनकी माँ का असमय देहांत हो गया था। नरेश मेहता के पिता की यह तीसरी पत्नी थीं। पहली पत्नी नि:संतान ही दिवंगत हो गई। दूसरी पत्नी से एक पुत्री हुई और तीसरी से पुत्र रत्न अर्थात स्वयं नरेश मेहता। तीनों पत्नियों के अकस्मात देहावसान के कारण इनके पिता भी संकुचित रहने लगे थे। मातृत्व और पितृत्व सुख से रहित इनका बचपन बीता। तरुणावस्था में प्रेम हुआ पर प्रेयसी ने किसी गलतफहमी का शिकार होकर आत्महत्या कर ली। इस घटना के बाद वह पूरी तरह टूट गए। हिंदू संस्कार से इनका विवाह हुआ पर विवाहोपरांत कुछ समय पश्चात एक और विषादपूर्ण घटना घटी। कार दुर्घटना में पुत्र की मृत्यु हो गई।

नि:संदेह इनकी कविता में 'एकांत' शब्द का बहुल प्रयोग उनके जीवन में रिक्तता को दर्शाता है, यहाँ बचपन से लेकर प्रौढ़ता तक 'एकांत' का वर्चस्व रहा है। किंतु यह एकांत उनकी रचनाधर्मिता को कहीं से भी शिथिल नहीं कर पाया। इसी एकांत से इन्हें कविता सृजन की प्रेरणा मिलती चली गई और हिंदी साहित्य में मूर्धन्य कवि के रूप में उभरे।

रचनाकार के व्यक्तित्व पर अगर आरोप न लगे तो वह रचनाकार हो ही नहीं सकता। नरेश मेहता पर भी आरोप लगे जो बेबुनियाद और सतही थे। इनकी कविता में "वैष्णव", "उपनिषद", "ऋचाएँ" आदि शब्दों की व्यवस्था से आलोचकों को दिक्कत थी। फलस्वरूप इन्हें मार्क्सवाद विरोधी, शोषित विरोधी की संज्ञा से विभूषित किया जाने लगा।

इन अरोपों के प्रत्युत्तर में इनका कथन देखें, कितना सटीक, सहज और निश्चल है:—

(1) "धर्म ने सदा मुझे न केवल आमंत्रित ही वरन मोहित भी किया है, पर मैं धार्मिक न बन सका। धर्म और काव्य तो मुझे अपने स्वत्व के पर्यायवाची लगते हैं, परंतु धार्मिकता और राजनीति अपने व्यक्तित्व के प्रति आक्रामक लगते हैं।"[16]

(2) प्रभाकर श्रोत्रिय के एक साक्षात्कार सह बातचीत के क्रम में उनका उत्तर:— "आपने कहा कि मार्क्सवाद से आपका 'डिसइल्यूजन' हुआ" तो वे तत्काल बोले– "ज्यादा अच्छा होता यह कहता कि मार्क्सवाद से नहीं, बल्कि उसके संगठनात्मक स्वरूप कम्युनिस्ट पार्टी से मोहभंग हुआ।"[17]

अपनी तमाम सार्थकताओं और संभावनाओं से लब्ध इस प्रबुद्ध कवि को हिंदी साहित्य में तमाम उपलब्धियों के बाद भी वह शिखर न मिल सका जिसका वह हक़दार था। विविध रंगों से परिपूर्ण काव्यरचना के बाद भी न किसी बड़े आलोचकों की इन पर नज़र पड़ी, न ही किसी बड़े साहित्यकार की। पुरस्कार किसी भी साहित्यकार के लिए उतना मायने नहीं रखता जितना कि उसकी रचनाओं का सम्यक मूल्यांकन न होना। अकादमिक गोष्ठी हो या विश्वविद्यालय का पाठ्यक्रम, इनकी कविताओं की गैर–मौजूदगी इनकी प्रतिभा–शक्ति का अपमान है।

आज समय की मांग है कि इस अप्रतिम और अभूतपूर्व कवि को हिंदी साहित्य में यथोचित स्थान मिले और आलोचक तटस्थ होकर, पूर्वग्रह से मुक्त इनके समग्र साहित्यिक अवदान की सही समीक्षा कर उसकी प्रासंगिकता और प्रभाव को सिद्ध करें। हालाँकि इन सबका मोह इस सहज व्यक्तित्व के हृदय में कभी था ही नहीं। सरल और सहज शब्दों में उनका यह कथन ही उनके काव्य की गरिमा है:— "लिख कर धर्म पूरा हुआ। मुझे सुख यही है कि मेरे कवि से 'विशेष' की आशा किसी को भी न रही। इसलिए स्वागत, तिरस्कार का प्रश्न नहीं उठता। एक पंक्ति भी कविता लगे तो मेरा धर्म सार्थक हो जाएगा।"[18]

संदर्भ:

1. नरेश मेहता, नरेश मेहता रचना–संचयन, संपादक–प्रभाकर श्रोत्रिय, प्रकाशन–साहित्य अकादमी, संस्करण–2015, पृ. 49
2. वही, पृ. 50
3. अज्ञेय, हिंदी साहित्य की प्रसिद्ध भूमिकाएँ (खंड–2) संपादक–कृष्ण दत्त पालीवाल, प्रकाशन–सस्ता साहित्य मंडल, संस्करण–2016, पृ. 92

4. शमशेर बहादुर सिंह, उषा कविता, कविताकोश, वेबसाईट– kavitakosh.org/kk/उषा/शमशेर, बहादुर सिंह

5. नरेश मेहता, नरेश मेहता रचना–संचयन, संपदाक–प्रभाकर श्रोत्रिय, प्रकाशन–साहित्य अकादमी, संस्करण–2015, पृ. 49

6. वही, पृ. 115

7. केदारनाथ सिंह, हाथ कविता, कविताकोश, वेबसाईट–kavitakosh.org/kk/ हाथ/केदारनाथ सिंह

8. नरेश मेहता, नरेश मेहता रचना–संचयन, संपादक–प्रभाकर श्रोत्रिय, प्रकाशन–साहित्य अकादमी, संस्करण–2015, पृ. 110

9. वही, पृ. 115

10. वही, पृ. 142

11. वही, पृ. 106

12. वही, पृ. 105

13. वही, पृ. 111

14. वही, पृ. 101

15. नरेश मेहता, मुक्तिबोधः एक अवधूत कविता, प्रकाशन–राजकमल प्रकाशन, संस्करण– 2012, पृ. 64

16. नरेश मेहता, नरेश मेहता रचना–संचयन, संपादक–प्रभाकर श्रोत्रिय, प्रकाशन अकादमी, संस्करण–2015, पृ. 29

17. वही, पृ. 29

18. वही, पृ. 11

❑❑

के.टी. मुहम्मद और लक्ष्मी नारायणलाल के नाटकों में सामाजिक न्याय

—ससिकला ए.वी.

सामाजिक न्याय बहुत ही व्यापक शब्द है जिसके अंतर्गत देश के सभी जनता के हितों की सुरक्षा का उद्देश्य निहित रहता है। यह सभी मनुष्यों को समान रूप से देखने और मानने के विचार पर आधारित है। इसका संबंध न केवल नियमों के समक्ष सभी समान के सिद्धांत से संबंधित है बल्कि कई सामाजिक कुरीतियों से भी हैं। जैसे भुखमरी, बेकारी, दरिद्रता, स्त्री उत्पीड़न, बच्चों के प्रति होने वाले अत्याचार आदि। निर्धनता और निरक्षरता के उन्मूलन से लेकर अल्प संख्यकों की रक्षा भी इसके अंतर्गत आते हैं। सामाजिक न्याय से यह अभिप्राय है कि प्रत्येक नागरिक में सामाजिक स्थिति के आधार पर किसी भी तरह का भेद नहीं होना चाहिए। सामाजिक न्याय के अंतर्गत यह भी निहित है कि व्यक्ति का किसी भी तरह का शोषण नहीं होना चाहिए। महात्मा गांधी और आंबेडकर ने अपने विचारों में सामाजिक न्याय की माँग पर जोर दिया था। न्याय देवता एक जमाने में निष्पक्ष हुआ करते थे। लेकिन आज वे अंधे हो चुके हैं। अब न्याय आसानी से खरीदा और बेचा जा सकता है।

नाटककारों में खासकर लक्ष्मी नारायण लाल और के.टी. मुहम्मद ने अपने नाटकों में सामाजिक न्याय को केंद्रीय विषय बनाया है। दोनों नाटककारों का समय करीब 1950 के आसपास है। स्वतंत्रता के बाद साहित्य में मुख्यतः नाटक के कथ्य और तथ्य में कई परिवर्तन दृष्टिगत हैं। द्वितीय विश्वमहायुद्ध के पश्चात् चारों तरफ से सामाजिक न्याय की माँग उठी थी। उस समय की रचनाओं में ये बदलाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ते हैं।

लक्ष्मी नारायण लाल के 'मिस्टर अभिमन्यु' नाटक में नायक मिस्टर राजन सामाजिक न्याय के लिए खड़े होने वाला पात्र है। आज प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का उद्देश्य सुख-सुविधा से संपन्न भौतिक जीवन जीना है। यहाँ राजन ईमानदार और आदर्शवादी युवक है। जब वह सरकारी नौकरी करने लगता है तो महाभारत के अभिमन्यु की तरह घिर जाता है। वह जिलाधीश है। उसकी अपनी

नौकरी ही उसके लिए चक्रव्यूह बन गई है। उसकी पदोन्नति कर दी जाती है और वह कलेक्टर से कमिश्नर बनाया जाता है। लेकिन इस पदोन्नति में खुशियाँ मनाने के बदले में वह इस्तीफा देने के लिए तैयार हो जाता है। क्योंकि वह जानता है कि उसे भ्रष्टाचारियों का, सत्ताधारियों का साथ देना पड़ेगा। इस प्रकार करने से लोगों के शोषण करने में भागीदार बनना पड़ेगा। एक आदर्शवादी ऑफीसर होने के कारण वह इससे बाहर निकलना चाहता है। लेकिन उसकी पत्नी और पिता इससे सहमत नहीं है। उसकी पत्नी भौतिक सुख और सामाजिक सम्मान चाहती है। उसके कई सपने हैं। इसलिए वह राजन के निर्णय का विरोध करती है। राजन अपनी पत्नी से कहता है– "यह नौकरी, मैं, तुम सब लोग मुझे घेरे रहे। किसी ने आज्ञा दी, वहीं अहंकार जागा, किसी ने पुकारा, किसी ने देखा, किसी ने..........।"[1]

यहाँ राजन सामाजिक न्याय को निभाना चाहता है। परंतु समाज उसे अपनी ओर खींचता है और उसे गलतियाँ करने को मजबूर करता है। वह हर एक मामले में सच्चा न्याय चाहने वाला व्यक्ति है। पौराणिक अभिमन्यु के शत्रु आचार्य लोग थे तो इस नाटक में आधुनिक अभिमन्यु के शत्रु गयादत्त जैसे भ्रष्ट राजनेता, केजरीवाल जैसे पूँजीपति उसके अपने पिता, और पत्नी विमल हैं।

लाल जी ने 'दर्पन' नाटक में समाज में न्याय न मिलने से तड़पती हुई एक स्त्री को हमारे सामने प्रस्तुत किया है। इस नाटक की नायिका दर्पन है। उसके पिता मिलेट्री में कैप्टन था। तीन वर्ष की आयु में ज्योतिषी के कहने के अनुसार उसे बौद्धमठ में दान में दिया गया। वह उदारता, करुणा और दया की प्रतिमूर्ति है। बड़े होने पर समाज और धर्म द्वारा आरोपित मिथ्या धारणाओं के प्रति उसे वैर भाव हो गया। वह संन्यास जीवन को त्यागकर भाग निकलती है। ट्रेन में हरिपद्म नामक युवक की सेवा शुश्रूषा में वह निरत हो जाती है। हरिपद्म के घर में पहुँचकर वह अपने को पूर्वी कहकर परिचित कराती है। उस परिवार से उसे असीम प्यार और ममता प्राप्त होती है जिसे पाकर उसके बैरागी मन में जीवन के प्रति आसक्ति का भाव उत्पन्न होता है। लेकिन उसका अतीत उसका पीछा करता रहता है। संन्यासिनी होने का अहसास उसके मन को दंश देता रहता है। वह अपने नये जीवन पर पुराने जीवन की छाया तक पड़ने देना नहीं चाहती। तभी दंडी नामक व्यक्ति आकर उसे इस द्वंद्व से छुटकारा दिलाता है। वह पुनः संन्यास जीवन ग्रहण करने के लिए बाध्य हो जाती है।

इस नाटक में पूर्वी भी सामाजिक शोषण का शिकार है। छोटी सी उम्र में ही परिवार के गुरु के कहे अनुसार उसे बौद्ध मठ के लिए दान में दे दिया जाता है। गुरु का कहना है कि उसके परिवार में रहने से वहाँ अमंगल होगा। यह पूर्वी की बातों से व्यक्त होता है "ऐसा हुआ कि गुरु ने उसकी जन्मपत्री बनाई। लड़की घर–परिवार में रखने योग्य नहीं है। इसे बौद्ध मठ में दे दिया जाना चाहिए, नहीं तो इससे पूरे परिवार का अमंगल होगा।"[2]

समाज में इस तरह के कई रीति–रिवाज हैं जो लोगों के शोषण के लिए ही बनाये गए मालूम होते हैं। भारतीय समाज में धार्मिक रूढ़ियाँ काफी सघन हैं और समाज पर इसका प्रभाव भी गहरा है।

'कर्फ्यू' नाटक में नाटककार ने फैलते भ्रष्टाचार, आतंकवाद, मूल्यहीनता आदि का विकराल रूप अंकित किया है। समाज में न्याय का पालन कराने की उत्तरदायी पुलिस व्यवस्था है जो ईमानदारी के साथ कार्य नहीं कर रही है। कानून व्यवस्था के रक्षक अधिकारी वर्ग भ्रष्टाचार में लिप्त हैं। निजी स्वार्थपूर्ति के लिए पुलिस कानून का स्वरूप बदलने को तैयार हो रही है। नाटक में न्याय पालन से विमुख पुलिस व्यवस्था को चित्रित किया गया है। मनीषा कर्फ्यू की रात को गौतम के घर सहारा पाती है। लेकिन गौतम उस पर हावी हो जाता है। इससे बचने के लिए वह बाहर निकलती है। लेकिन बाहर कर्फ्यू होने के कारण पुलिस उसे पकड़ती है। उसे ढेर सारी गालियाँ सुननी पड़ती हैं और पुलिस की वासना की शिकार भी बनायी जाती है। पुलिस की अमानवीयता को मनीषा नाटक में व्यक्त करती है—

"मनीषा : ....मुझे देखकर इंसपेक्टर ने भारी-भरकम गाली दी और जीप में बिठा दिया। अस्पताल होकर पुलिस चौकी पहुँचते-पहुँचते उन्होंने मेरे सारे शरीर को बुरी तरह मथ दिया था। सारे रास्ते कई हाथ एक साथ मेरे जिस्म पर खेलते रहे और मैं ....मैं समाज की रक्षा करने वाले इन जानवरों की लीला देखती रही। पुलिस चौकी पहुँचने पर पूछताछ करने के लिए मुझे एक कमरे में ले जाया गया। मुझसे कहा गया, मैं नक्सलाइट हूँ। मेरे मना करने पर डंडों की बौछार शुरू हुई क्योंकि बिना पिटे कौन मानता है कि वह नक्सलाइट है। उन्हें मेरे जिस्म पर यह कपड़े अच्छे नहीं लग रहे थे, इसलिए उन्हें उतार दिया गया। इसके बाद जो हुआ वह कहना मुश्किल है।"[3] इस नाटक द्वारा लाल जी ने यह व्यक्त किया है कि सामाजिक न्याय के रक्षक लोग ही उसकी रक्षा नहीं करते। सामाजिक न्याय का टूटता स्वरूप इस नाटक में दृष्टिगत है।

'गंगामाटी' में गंगा को नाटककार ने सामाजिक न्याय के प्रति जागरूक रहने वाली एक युवती के रूप में चित्रित किया है। गंगा 'गंगामाटी' की एक ब्राह्मण युवती है जिसमें समाज सुधार की भावना है। वह शिक्षित नारी है। उसे जाति-पाँति, छुआछूत आदि में विश्वास नहीं है। निम्न जाति के बीच उठने-बैठने को वह बुरा नहीं मानती। इस स्वभाव से लोग उसे घमंडी समझते हैं। इस घमंड को दूर करने के लिए लोगों ने उसकी शादी शिवानंद के बेटे देवल से करायी। वह उस गाँव को नई जिंदगी देना चाहती है। उस समय समाज में होने वाले अत्याचार के प्रति वह 'जिआहो' पूजा करती है और सब लोगों को इस पूजा में भाग लेने के लिए उत्सुक करती है। यहाँ गंगा को साधारण नारी से बढ़कर उच्च व्यक्तित्व से युक्त दार्शनिक विचार प्रकट करनेवाली नारी के रूप में चित्रित किया गया है।

गंगा सुशिक्षित है। और वह समाज में व्यक्ति के प्रति किसी भी तरह के शोषण कार्य देखने पर उसमें दखल देती है। क्योंकि वह जानती है कि समाज में न्याय सभी को मिलना चाहिए। चंदेरा उसकी पत्नी सीता को मारते देखकर गंगा क्षुब्ध होती है। वह चंदेरा को डाँटते हुए कहती है— "समझता है तू बड़ा बली है। स्त्री पर हाथ उठाते शर्म नहीं आती। उस पर हाथ क्यों नहीं उठाता जहाँ ताकत है? छी! छी! डूब मर चुल्लू भर पानी में!"[4]

शिक्षित नारी होने से वह जानती है कि स्त्री अबला नहीं है। वह शक्तिशाली है। वह स्वयं अपने को बचा सकती है। गंगा समझती है कि स्त्री को खुद बचाना चाहिए। वह चंदेरा से कहती है मारना चाहता है? ले मार, उठा हाथ अगर ...हिम्मत है कायर! बुजदिल! इसे अबला समझ रखा है!"[5] यहाँ गंगा सीता को न्याय दिलाना चाहती है।

'अंधा कुआं' नाटक में समाज से न्याय के लिए तरसती एक युवती का चित्रण किया गया है। सुका एक ग्रामीण नारी है जिसे उसके पति भगौती हमेशा मारते हैं। उसके अत्याचार, अन्याय, और मारपीट के कारण वह इंदर नामक युवक के साथ भाग जाती है। भगौती गाँव के लोगों के सामने झूठ बोलता है कि अब सुका पर कोई अत्याचार नहीं करूँगा। अत: पुलिस की सहायता से सुका को वापस ले आता है। भगौती की रोज की मारपीट के कारण वह आत्महत्या करने के लिए एक कुएँ में कूदती है। लेकिन वह अंधा था। सुका जब आत्महत्या करने का प्रयास करती है, इससे भगौती आत्मग्लानि का एहसास नहीं करता बल्कि वह उसे चारपाई से बाँधता है और लोहे की गर्म सलाखें दागना चाहता है। तभी भगौती का भाई अलगू के आने से वह ऐसा कर नहीं सका। एक बार फिर इंदर सुका को भगाने के लिए आया था, लेकिन सुका उसके साथ जाने के लिए तैयार नहीं हुई क्योंकि वह उसकी कायरता का रूप देख चुकी है। सुका समाज से न्याय माँग रही है। जबसे वह भगौती की पत्नी बनकर आई है तबसे उस पर अत्याचार हो रहा है। वह कहती है–

"सुका: सुन लिया न! बुला लावो गाँव भर को, सुन ले इसकी बात! सब सुन लें! इजलास से छूटकर इस घर में आए हुए आज डेढ़ महीने बीत गए। तबसे आज तक, एक दिन भी ऐसा नहीं हुआ होगा, जिस दिन इसने मुझे मारा न हो। जो साड़ी पहने हुए इजलास से आई थी, वही आज तक मेरे तन पर सड़ रही है। वही कमीज है। देखो, ऊपर से इसने मार-मारकर,....।" (रो पड़ती है।)[6]

'कलंकी' नाटक में लाल जी ने मिथकीय प्रयोग के आधार पर राजनैतिक समस्या का उद्घाटन किया है। इस नाटक में न्याय का रक्षक ही उसे तोड़ रहा है। लोग अकाल में मरते समय अवधूत के कहने पर लोग अवतार के स्वप्नों में डूबे हुए हैं। इसमें अवधूत कायर शासक अकुलक्षेम है। जो हूणों के आक्रमण के समय अपने आपको विवश समझकर आत्महत्या कर लेता है। जनता को मूर्ख बनाकर शासक अपना अस्तित्व बनाए रखता है। कोई उसके खिलाफ विद्रोह करे तो उसे कारागार में डाल देता है। अकुलक्षेम के अत्याचार के बारे में उसका पुत्र हेरूप नाटक में इस प्रकार कहता है–

"हेरूप : पुरपति होकर जिसने इस नगर को व्यर्थता, निर्वीर्यता के पथ पर छोड़ा, अपनी सत्ता को यहाँ स्थापित रखने के लिए जिसने अपरिवर्तनीयता के भ्रम फैलाए उसी ने अपनी कायरतापूर्ण मृत्यु के बाद अब तुझे यहाँ भेजा!"[7]

के.टी. मुहम्मद ने अपने 'वेल्लप्पोक्कम' (बाढ़) नाटक में धार्मिकता के नाम पर होने वाले भेदभाव को चित्रित किया है। मनुष्य ही धर्म की सृष्टि करता है। इस नाटक में नाटककार ने

वेल्लप्पोक्कम के समय धर्म के नाम पर लोगों में होने वाले प्रश्नों को बताया है। समाज में सभी लोगों को समानता का अधिकार है। भारी वर्षा के कारण एक प्रदेश में वेल्लप्पोक्कम (बाढ़) हो रही है। वहाँ रहने वालों को डर लग रहा है कि सभी डूब जाएँगे। इसी बीच हिंदु परिवार के गोविन्दन नामक व्यक्ति के घर में उनकी बेटी सुनीता के घर न पहुँचने पर घबराहट हो रही है। गोविन्दन के पुत्र गोपी गाँव में लोगों को बचाने का कार्य कर रहा था। वह अपने मित्र और वहाँ के मस्जिद के अध्यक्ष कुञ्जालिहाजी के पुत्र उस्मान के साथ मिलकर लोगों को बचा रहे थे। इसी बीच सुनीता की खोज भी कर रहे थे। इसी बीच सुबैदा नामक एक लड़की बाढ़ में बहकर गोविन्दन के घर में पहुँचती है। गोविन्दन की पत्नी जानकी सुनीता की प्रतीक्षा कर रही थी। गोविन्दन और बेटा सेतु मिलकर सुबैदा को वहाँ रहने की अनुमति देती है। उसी समय कुञ्जालिहाजी के घर में मस्जिद का रखवाला अवरान सुनीता का शव देख रहा है। अवरान कुञ्जालिहाजी के कहने पर शव को एक लाठी लेकर दूर बहाता है। वे अपने धर्म पर अटल रहनेवाले लोग हैं और नाटक के अंत तक अपने धर्म के लोगों को ही बचाना चाहते हैं। प्राकृतिक आफत के समय में भी ये लोग धर्म के नाम पर झगड़ते रहते हैं। सामाजिक न्याय समझाने वाले व्यक्ति भी इस नाटक में हैं। उस्मान कहते हैं—

"उस्मान नहीं सिखाएगा। लेकिन ये सब खुद सीखना चाहिए। अल्लाह हो या ईश्वर, सब मानव के मन में रहते हैं। मानव नहीं है तो ईश्वर कहाँ रहेंगे? मंदिर और मस्जिद के अर्थ क्या होंगे? इसलिए पहले मानव की रक्षा की बात सोचो।"[8]

जानकी, सुनीता, सुबैदा आदि को समाज में न्याय मिलना चाहिए। विभिन्न धर्म के लोग होने पर भी वे मनुष्य हैं। यहाँ धर्म के नाम पर न्याय निषेध करने वाली जनता को नाटककार ने प्रस्तुत किया है।

'मनुष्यन कारागृहत्तिलाणु' (मनुष्य जेल में है) नाटक में नाटककार ने आधुनिक मनुष्य में निहित स्वार्थ, दरिद्रता, प्रतीक्षा, आदि चित्रित किया है। सुकुमारन उसके दोस्त मुहम्मद के पिता (जो वहाँ के पूँजीपति हैं) की कंपनी में काम करने वाला एक स्वाभिमानी युवक है। कंपनी के मुनीम को मारने से उसे कंपनी से निकाल दिया जाता है। उसे तनख्वाह देने के लिए भी वे तैयार नहीं हुए। एक सामान्य परिवार में जन्मे सुकुमारन के भाई बीमार होने से कोई भी काम नहीं कर सकता। उसके परिवार में उसकी माँ और बहन भी है। काम चले जाने से घर में चूल्हा जलाना मुश्किल हो गया। सब उससे नाराज होने लगे। पासवाले घर के पारुक्कुट्टियम्मा की बेटी लीला से सुकुमारन प्यार करता है। लेकिन लोग लीला के बारे में तरह-तरह की बातें कहते हैं। इसी कारण सुकुमारन की माँ देवकियम्मा भी लीला को पसंद नहीं करती। मुहम्मद लीला के घर में आते जाते थे। इसके बारे में लोग कई बातें कहते थे। सुकुमारन पूँजीपति के यहाँ से पैसे हड़पकर भाग गया। सब लोग उसके शत्रु बन गए। पुलिस भी उसे खोजने लगी। अंत में सुकुमारन लीला की सच्चाई समझकर उसे अपनाने के लिए तैयार हो जाता है। इस नाटक में सुकुमारन एक अच्छा इंसान है। सच्चाई और काम करने का एक हृदय उसमें है। फिर भी उसे न्याय नहीं मिलता। मुहम्मद के पिता से वह कहता है कि उसने कुछ

भी नहीं किया, मुनीम ने उसे गधा पुकारा। तो उसने बोला कि वह गधा नहीं है। और वह पूँजीपति से कहता है कि उसे गधा नहीं बुलाना चाहिए। यहाँ श्रमिक वर्गों के प्रति पूँजीपतियों के शोषण कार्य सामने आते हैं। उसे समाज में न्याय प्राप्त नहीं होता। यहाँ दोनों का वार्तालाप इस प्रकार हैं–

"सुकुमारन : मैं एक मानव के रूप में यहाँ रहूँगा। गधा नहीं बनूँगा।

मालिक : कभी-कभी ऐसा भी बनना पड़ेगा। इसके बिना नहीं चलेगा।

मुहम्मद : उसको पैसा नहीं काम वापस चाहिए।

मालिक : तुमको इसमें दखल देने की जरूरत नहीं है। इस तरह के बदमाशों के लिए यहाँ काम नहीं हैं।

सुकुमारन : मुझे बदमाश मत बुलाओ। मैंने मेहनत का फल माँगा है आपसे। भीख नहीं।"[७]

इससे यह व्यक्त है कि सुकुमारन को समाज में न्याय नहीं मिला। इसी तरह लीला के प्रति भी समाज ने न्याय नहीं किया। मुहम्मद को लीला के घर में आते जाते देखकर समाज उसे वेश्या कहता है। मुहम्मद उसे एक बहन की तरह समझता है। यही नहीं मुहम्मद के घर में ही वह किराया देकर रहती है। बेटी की बुरी स्थिति पर दु:खी होकर उसकी माँ पारुक्कुट्टियम्मा का देहांत हो जाता है। इस पुरुष वर्चस्ववादी समाज में स्त्री पर हमेशा इसी तरह के इलजाम लगते हैं।

'कैनाट्टिकल' नाटक में समाज से न्याय मिलने के लिए तरसते हुए व्यक्तियों को देख सकते हैं। भारतियम्मा इस नाटक का मुख्य पात्र है। निर्मला उसकी बेटी है। उसका एक बेटा भी है जो उसे छोड़कर कहीं चला गया था। दिवाकरन नामक व्यक्ति ने (जो भारतियम्मा के पति का मैनेजर था), धोखे से भारतियम्मा और उसके परिवार को उसके बड़े घर से बाहर निकाल दिया। उसकी बेटी सुमती भारतियम्मा के बेटे बालचन्द्रन से प्यार करती है। भारतियम्मा चाहती है कि उसका बेटा वापस आकर उसे अपना घर दिलाएगा। लेकिन भेजे हुए सभी खत सही पता न मिलने के कारण वापस आते हैं। इस नाटक में एक पागल व्यक्ति भी है जो हमेशा ईश्वर को खत लिखता है। वह एक गरीब व्यक्ति है। गरीबी और स्त्री उत्पीड़न जैसे कुरीतियों को उन्मूलन करने का उत्तरदायित्व समाज का है। समाज से न्याय माँगते हुए भारतियम्मा, सुमती, पागल व्यक्ति, बालचन्द्रन आदि पोस्टबॉक्स में खत डालते हैं। दिवाकरन जैसे पूँजीपति अपने घर की सुरक्षा के लिए पुलिस की सेवा माँगते हैं। अमीर होने से सरकार पुलिस को उस महल का रखवाला बना देती है। लेकिन यहाँ सामान्य जनता के लिए सुरक्षा या सेवा की आवश्यकता है तो सरकार नहीं सुरक्षा देती। पोस्टमेन पी.एम.उण्णी और पुलिस उन्हें न्याय दिलाना चाहते हैं। वे दोनों जनसेवक हैं। उनके चाहने पर भी वे सहायता नहीं कर सकते। क्योंकि पूँजीपतियों द्वारा जनता का शोषण होता ही रहता हैं। यहाँ पोस्टमेन पी.एम.उण्णी कहता है–

"उण्णी : नौकरी द्वारा हम दोनों लोगों की सेवा करने को बाध्य हैं।

पुलीस : इसलिए ही मैं भी उनकी सेवा करने के लिए कहता हूँ।

....

पुलीस : (दुख के साथ) पोस्टमेन .....एक रहस्य बोलूँ

उण्णी : बोलो

पुलीस : कभी–कभी कई बातों में दंड देने की अनुमति नहीं मिलती।"

इससे यह व्यक्त होता है कि सामान्य जनता न्याय से बहुत दूर है। सरकार के प्रतिनिधि भी न्याय दिलाने में असमर्थ होते हैं।

"चुवन्न घटिकारम (लाल घड़ी)" नामक नाटक में नाटककार ने सीता, लीला नामक दो स्त्रियों की कहानी बताई है। सीता और लीला बहनें हैं। माँ–बाप की मृत्यु के बाद वे नाणियम्मा नामक स्त्री के साथ रहती हैं। सीता सचमुच सावित्री और शीलवती जैसी आदर्श नारी है। लीला जो उसकी छोटी बहन है रवि नामक एक व्यक्ति से प्यार करती है। लेकिन रवि सिर्फ लीला के शरीर मात्र को चाहता था। यह लीला को पता नहीं था। सीता के कई बार कहने पर भी वह सुनने के लिए तैयार नहीं हुई। वासु नामक एक व्यक्ति इस नाटक में है जिसने सीता को काम दिलाने में मदद की थी। रवि के आने जाने से लोग दोनों के बारे में तरह तरह की बातें कहने लगे। इन्हें बुरी नजर से देखने लगे। वासू ने भी सोचा कि दोनों बुरी हैं। इसलिए एक बार वह सीता का हाथ पकड़ता है। सीता वासू से नाराज होकर वहाँ से जाने के लिए कहती है। लेकिन इस घटना के बाद सीता लीला से बहुत नाराज हो गयी और लीला बहन को छोड़कर चली गयी। उस दिन के बाद सीता बीमार पड़ गई। लीला दूसरे घर में रहने लगी। और वह वेश्या बन जाती है। कुमारन, मूसक्कोय जैसे व्यक्ति वहाँ आते जाते रहते हैं।

लीला और सीता को समाज ने ही इसी स्थिति में पहुँचा दिया है। उस घर में लीला के प्रेमी रवि जबसे जाते थे उस समय से लोग उन्हें बुरी नजर से देखने लगे थे। यह सीता और वासू की बातों से समझ में आता है–

"सीता : तुम पागल हो गए हो क्या वासू?

वासू : नहीं, तू जब कंपनी में जाती है, तब लीला अपने दोस्तों के साथ यहाँ रहती है। इस घर के बारे में बाहर निकलकर लोगों से पूछो।"[11]

स्त्रियाँ जब अकेले रहती हैं तो समाज उसमें कई अर्थ ढूँढ़ता है। सामाजिक न्याय उन्हें प्राप्त नहीं होता। गलती किये बिना ही वे गुनहगार बन जाती हैं। इन दोनों स्त्रियों के जीवन में समय गलत था।

'करवट्ट पशु' — नाटक में नाटककार ने गरीबी और उससे होने वाली पीड़ाओं की ओर संकेत किया है। इस नाटक का मुख्य पात्र पुरुषू की एक गाय है। वह अब दूध नहीं देती। क्षय रोग से पीड़ित पुरुषू के लिए दवाई खरीदने के लिए घरवालों के पास पैसे नहीं हैं। इसलिए वे उस गाय को बेचना चाहते हैं। लेकिन पुरुषू उसे बेचने की अनुमति नहीं देती। क्योंकि खरीदने वाले लोग उसे मार डालेंगे। पुरुषू के पिता राघवन और विमाता मीनाक्षियम्मा और उनके बेटे अच्युतन आदि गाय को बेचने के लिए कहते हैं। गाय एक जंतु है फिर भी उसे भी न्याय मिलना चाहिए। यहाँ पुरुषू गरीब होने से दवा खरीद नहीं सकता। वह बीमार होने से काम भी नहीं कर सकता। अच्युतन की पत्नी सुशीला पुरुषू की सेवा करती है। यह अच्युतन पसंद नहीं करता। पुरुषू लीला नामक एक लड़की से प्यार करता है। लेकिन बीमार होने की वजह से उसका प्रेम भी मुश्किल में पड़ गया है। पुरुषू का दोस्त भास्करन लीला को चाहता है। इसलिए वह किसी भी तरह पुरुषू को उससे दूर ले जाना चाहता है।

इस नाटक में पुरुषू जो क्षय रोग से पीड़ित है वह बीमारी के कारण अपने को निराश हो जाता है। और वह सभी घरवालों से प्यार करता है। उसे समाज से न्याय मिलना चाहिए। लेकिन न्याय नहीं मिलता। वह अपने पिता से कहता है—

"पुरुषू : मुझे प्यार करने वाला कोई नहीं है। बिना प्यार के यहाँ जी नहीं सकता पिताजी।"[12]

गरीबी एक गलती नहीं है। समाज और शासक को जनता की गरीबी को दूर करने के लिए कोई न कोई कार्य करना चाहिए वरना यह न्याय निषेध है।

श्री लक्ष्मी नारायण लाल और के.टी.मुहम्मद के नाटकों की तुलना करते समय यह व्यक्त होता है कि इन नाटकों में सामाजिक न्याय एक ज्वलंत प्रश्न के रूप में चित्रित है। समाज में सामान्य जनता को न्याय मिलना बहुत ही मुश्किल है। धर्म, जाति, गरीबी, लिंग, देश आदि न्याय प्राप्ति के आधार हैं। दोनों नाटककारों ने अपने नाटकों में न्याय करने की इच्छा मन में रखकर जीनेवाले पात्रों को चित्रित किया हैं। नाटककार जानते हैं कि जनता को न्याय दिलाना सरकार का दायित्व है। लेकिन सरकारी कर्मचारी कभी-कभी असहाय होते हैं। गरीबी, नारी उत्पीड़न, बच्चों के प्रति होने वाले अत्याचार आदि समस्याओं में न्याय दिलाना समाज का कर्तव्य है। इन नाटकों में न्याय के पक्ष में खड़े होने वाले व्यक्ति अधिक हैं। नाटकों से यह व्यक्त है कि समाज में न्याय के रखवाले लोग ही न्याय को तोड़ रहे हैं। दलित, शोषित, दरिद्र लोगों को मुश्किल से ही समाज में न्याय मिलता हैं। यह बात दोनों नाटककारों ने खूब समझी हैं और अपने नाटकों में अंकित भी की हैं।

संदर्भः

1. डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल, मिस्टर अभिमन्यु, पृ. 42
2. डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल, दर्पण, पृ.33
3. डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल, कर्फ्यू, पृ. 85-86

4. डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल, गंगामाटी, पृ. 45

5. डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल, गंगामाटी, पृ. 45

6. डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल, अंधा कुआं, पृ. 46

7. डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल, कलंकी, पृ. 28

8. के.टी. मुहम्मद, वेल्लप्पोक्कम (बाढ़), पृ. 91–92

9. के.टी. मुहम्मद, 'मनुष्यन कारागृहत्तिलाणु' (मनुष्य जेल में है), पृ.12

10. के.टी. मुहम्मद, 'कैनाट्टिकल', पृ. 49–50

11. के.टी. मुहम्मद, चुवन्न घटिकारम (लाल घड़ी), पृ. 30

12. के.टी. मुहम्मद, करवट्ट पशु, पृ. 54

❑❑

समकालीन आदिवासी कविता: वैश्विक सभ्यता और सामाजिक विकास का लिटमस टेस्ट

—नीरज

कोई भी कला-कर्म अंततः एक जीवन-दृष्टि होती है, जिसे बने बनाए ढंग से स्वाभाविक रूप में प्राप्त न करके जीवन-स्थितियों से गुजरकर पाना होता है। कहने को हम पिछले लगभग तीस वर्षों से वैश्वीकरण एवं तकनीकी-क्रांति के युग में जी रहे हैं, परंतु सभ्यता की तमाम चकाचौंध के बीच आज भी अनेक ऐसे छोटे-छोटे परंतु महत्वपूर्ण समुदाय हैं जो विकास की प्रक्रिया के साथ सही और संतुलित समीकरण न बना पाने के कारण उपेक्षित हो रहे हैं। दरअसल स्थानीयता के प्रति सम्मानित एवं अनुपातिक-दृष्टि के बगैर वैश्विक होने का दावा ही छद्मपूर्ण एवं खोखला होता है। आदिवासी समुदाय भी ऐसा ही एक समुदाय है जो विकास की प्रक्रिया एवं मुख्यधारा की जिंदगी में ही नहीं बल्कि साहित्य के दर्पण में भी लगभग अनुपस्थित है। आदिवासी साहित्य जैसा कि विनायक तुमराम लिखते हैं— "वन-जंगलों में रहने वाले उन वंचितों का साहित्य है जिनके प्रश्नों का अतीत में कभी उत्तर ही नहीं दिया गया। यह ऐसे दुर्लक्षितों का साहित्य है जिनके आक्रोश की ओर यहाँ की समाज-व्यवस्था ने कभी कान ही नहीं दिए। यह गिरिकंदराओं में रहने वाले अन्यायग्रस्तों का क्रांति साहित्य है। यहाँ की क्रूर और कठोर न्याय-व्यवस्था ने जिनकी सैकड़ों पीढ़ियों को आजीवन वनवास दिया उस आदिम समूह का मुक्ति साहित्य है। यह वनवासियों का क्षत जीवन जिस संस्कृति की गोद में छुपा रहा उसी संस्कृति के प्राचीन इतिहास की शुरुआत करने वाला है यह साहित्य।"[1] स्पष्ट है कि आदिवासी साहित्य अभावग्रस्त, वंचित, परंतु सामूहिक अनुभव में जीवन जीने वाले खास लोगों (संवैधानिक रूप से जनजाति कहलाने वाले) का साहित्य है।

आदिवासी साहित्य केवल आदिम-जीवन के चित्रण को ही साहित्य-सृजन का मूल ध्येय नहीं मानता है। जिस सामाजिक व्यवस्था ने आदिमों का अस्तित्व नकारा, उन्हें जंगलों में जबरदस्ती धकेला, लंगोटी में जीने को बाध्य किया तथा संतुलित भोजन के नाम पर सिर्फ कंद-मूलों को अंतिम विकल्प बना दिया, उस व्यवस्था पर भी आदिवासी साहित्य विचार करता है। आदिवासी साहित्य तो ऐसे जंगलवासियों को मुक्ति की आशा दिलाने वाला है जिनके वनवास का अंधकार कभी हटाया

नहीं गया। इसलिए आदिवासी साहित्य अपमान एवं शोषण के शिकार आदिवासियों की चिंता, विस्थापन, प्रकृति–विनाश के कुप्रभावों के साथ–साथ वेदना एवं विद्रोह की एक खास प्रकृति को अभिव्यक्त करता है। तटस्थ होकर देखें तो वेदना एवं विद्रोह का यही स्वर उनकी अस्मिता के सवाल को भी निर्मित करता है। कमलेश्वर लिखते हैं– "ऐसे विषम हालात में जब पूरे भारत के आदिवासी समुदाय के सामने जीवन–शैली खतरे में हो, उनकी भाषाओं की मृत्यु हो रही हो तब वह और उसका साहित्य यदि विद्रोह और असहमति की भाषा में बोलता हो तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए।"[2] जाहिर है आदिवासी साहित्य न केवल आदिवासियों की अस्मिता में आ रहे निरंतर व्यापक बदलाव को रेखांकित करता है अपितु मानवीय–मूल्यों, वंचितों और उपेक्षितों के अधिकारों की स्थापना और मानवीय संवेदनाओं को उकेरने के संवैधानिक प्रयासों को भी व्यावहारिकता प्रदान करता है।

आदिवासी साहित्य का प्राथमिक उद्देश्य आदिवासी–अस्तित्व के संकट एवं अस्मिता की खोजकर उन कारणों को समाज के सम्मुख लाना है जिसके कारण आदिवासी जल, जंगल और जमीन छोड़ने को विवश हैं। वर्चस्ववादी सत्ता, किस प्रकार आदिवासी समाज को हाशिए पर डालने का षडयंत्र रचती है तथा यह भूमंडलीय व्यवस्था किस प्रकार आदिवासियों की जीवनदायी शक्तियों व स्रोतों का विनाश कर उसे पलायन, विस्थापन एवं बेरोजगारी के लिए विवश कर रही है, इस विडंबना की पूरी प्रक्रिया का सूक्ष्म विश्लेषण यहाँ मौजूद है। सभ्यता के आरंभ से लेकर वैश्वीकरण की प्रक्रिया तक किस प्रकार सारी व्यवस्थाएँ एवं शक्ति–केंद्र आदिवासी अस्मिता को असभ्य, बर्बर एवं असंस्कृत मानकर मिटाने पर तुली हुई है, इसके दो उदाहरण देखिए। 'ग्लोबल गाँव के देवता' में रणेन्द्र लिखते हैं– "हम वैदिक काल के सप्तसिंधु इलाके से लगातार पीछे हटते हुए आजमगढ़, शाहाबाद, आरा, गया, राजगीर से होते हुए इन वन प्रांतर कीकट, पौंद्रिक, कोकराह या छोटा नागपुर पहुँचे। हजारों साल में कितने इंद्रों, कितने पांडवों, कितने सिंगबौगा ने कितनी बार हमारा नाश किया, कितने गढ़ ध्वस्त किए उसकी कोई गणना किसी इतिहास में दर्ज नहीं है। केवल लोक कथाओं और मिथकों में हम जिंदा हैं... लेकिन बीसवीं सदी की हार हमारी असुर जाति की अपने पूरे इतिहास में सबसे बड़ी हार थी। इस बार कथा–कहानी वाले सिंगबौगा ने नहीं टाटा जैसी कंपनियों ने हमारा नाश किया।"[3] अब गुजराती कवि चामूकाल राठवा की कविता की कुछ पंक्तियाँ भी देखें–

"आदिवासी–इस शब्द को वे / इस तरह बोलते हैं / जैसे यह किसी महामारी का नाम हो / अब तो हर बड़े रोग की दवा मिलती है / इस शब्द को सुनकर / वे ऐसे देखते हैं जैसे उन्होंने / आकाश में उड़ती / रकाबी देख ली हो / इसके विपरीत सरकारी कचहरी के लोगों को यह शब्द शहदीला लगता है / कारण / थोड़ा–सा दबते ही उसमें से / शहद टपकने लगता है और इसे मन माफिक / निचोड़ा जा सकता है /...किंतु ठहरो / लो अब हम खुद बताते हैं तुम्हें / आदिवासी शब्द का अर्थ।"[4]

स्पष्ट है कि यहाँ 'वे' मुख्यधारा के व्यक्ति एवं समाज के लिए आया है जिसे आदिवासी अपने होने का अर्थ बताने को बेताब हैं। साथ ही टाटा जैसी कंपनियों के कारण उनका जो शोषण,

उत्पीड़न हो रहा है इस बात का बोध भी उन्हें देर से ही सही परंतु हो चुका है। इन दोनों परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखकर एवं स्वानुभूति बनाम सहानुभूति के प्राथमिक परंतु एकालाप में पड़ने के बजाय समकालीन हिंदी कविता में आदिवासी-स्वरों का विश्लेषण करें तो पाते हैं कि यहाँ एक तरफ महादेव टोप्पो, रामदयाल मुंडा, हरिराम मीणा, निर्मला पुतुल, ग्रेस कुजूर एवं सहदेव सोरी जैसे आदिवासी रचनाकार हैं तो दूसरी ओर कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह, चंद्रकांत देवताले, विनोद कुमार शुक्ल, श्याम सिंह शशि, ज्ञानेन्द्रपति, रमणिका गुप्ता, रणेन्द्र एवं एकांत श्रीवास्तव जैसे गैर आदिवासी रचनाकारों की कविताएँ भी हैं। दोनों ही जगह आदिवासी व्यक्ति और समाज एवं उनका पूरा परिवेश विद्यमान है। परंतु विकास की तमाम योजनाएँ एवं सरकारी सुविधाओं की घोषणाओं के बावजूद भी क्या कारण है कि आदिवासी न तो मुख्यधारा के जीवन में शामिल हो पा रहे हैं, न ही उनके साहित्य को वह स्थान मिल पा रहा है जहाँ से वे आगे की कहानी कहें, सुने-सुनाएँ और संवाद की एक स्थिति कायम कर सकें। हाशियाकृत आदिवासियों की ऐसी ही समस्याओं एवं उनके बरक्स विकल्पों को शब्दबद्ध करते महादेव टोप्पो लिखते हैं—

"इतिहास तुम्हारा / इतिहास के पन्नों पर / गढ़ा नहीं शब्दों में / न ही दर्ज हो सका है ग्रंथों में तुम्हारी विजयगाथाओं और संघर्षों के गवाह / पेड़ हैं, नदियाँ हैं, चट्टानें हैं / पुरखों की आत्माएँ है ससनदिरी है / जाहेरथान है / तुम्हारे लोकगीत हैं / लेकिन / इन सबकी गवाही / उन्हें मंजूर नहीं इसलिए तुम इतिहास के ग्रंथों में / हाशिए पर डाल दिए गए हो / या कर दिए गए हो उससे बाहर इससे पहले कि वे पुनः तुम्हारा / अपने ग्रंथों में दस्यु, राक्षस / बंदर, भालू या किसी अन्य जानवर के रूप में करे वर्णन / तुम्हें अपने आदमी होने की / तलाशनी होगी परिभाषा उनके सिद्धांतों, स्थापनाओं के विरुद्ध, उनके बर्बर वैचारिक हमलों के विरुद्ध रचने होंगे स्वयं ग्रंथ।"[5]

आज भी जबकि समाज के निम्नवर्गीय, दलित एवं आदिवासी व्यक्तियों को जातिसूचक संबोधनों से पुकारे जाने पर संवैधानिक प्रतिबंध लग चुका है, बहुत से ऐसे लोग हैं जो आदिवासियों को जंगली, बंदर, आदिम एवं पशु जैसे अनेक संबोधनों से न केवल संबोधित करते हैं बल्कि उन्हें मनुष्य माने जाने से ही इंकार करते हैं। हम जानते हैं कि जंगल, जमीन और जल ही आदिवासी समाज की बुनियादी जरूरतें एवं आजीविका का साधन दोनों हैं। परंतु आज जंगल की कटाई धड़ल्ले से हो रही है, नदियाँ ग्लोबल वार्मिंग के कारण सूख रही हैं, कृषि-भूमि पर अट्टालिकाएँ एवं मॉल खड़े किए जा रहे हैं और आदिवासी एवं इन जैसी छोटी अस्मिताओं की प्रजातियाँ अपनी ही भूमि से खदेड़े जा रहे हैं। इसलिए आदिवासी कविताएँ आजाद भारत में ताकतवर होते गए लोलुप पूँजीवाद के सामने बेबस आदिवासी की चिंता मात्र नहीं है बल्कि उनका उद्देश्य आदिवासियों पर पड़ रहे उन अमानवीय एवं भयावह दवाबों को प्रकट करना है जिसके कारण उनका अस्तित्व खतरे में पड़ गया है। 'आदिवासी' शीर्षक से ही हिंदी में कई कविताएँ लिखी गई हैं और इन सब में आदिवासी-समस्याओं का चित्रण है। परंतु अनुज लुगुन की कविता 'आदिवासी' को देखें। आदिवासियों के विरुद्ध की राजनीति, जंगलों के कटने के कारणों से लेकर अस्मिता के उनके पूरे विमर्शों को दायरे में समेटती यह कविता सिद्ध करती है कि अस्तित्व के लिए संघर्ष ही आदिवासी जीवन की वर्तमान सच्चाई है।

"वे जो सुविधा भोगी हैं / या मौका परस्त हैं / या जिन्हें आरक्षण चाहिए कहते हैं हम आदिवासी हैं / वे जो वोट चाहते हैं / कहते हैं तुम आदिवासी हो वे जो धर्म प्रचारक हैं / कहते हैं / तुम आदिवासी जंगली हो / वे जिनकी मानसिकता यह है कि हम ही आदि निवासी हैं / कहते हैं तुम वनवासी हो / और वे जो नंगे पैर चुपचाप चले जाते हैं जंगली पगडंडियों में / कभी नहीं कहते कि / हम आदिवासी हैं / वे जानते हैं जंगली जड़ी बूटियों से / अपना इलाज करना / वे जानते हैं जंतुओं की हरकतों से मौसम का मिजाज समझना / सारे पेड़-पौधे, पर्वत-पहाड़ / नदी-झरने जानते हैं कि वे कौन हैं।"[6]

दरअसल वर्तमान समय में आदिवासी-अस्तित्व पर छाया संकट कोई नया नहीं है। सभ्यता के आरंभिक काल से ही इन्हें लगातार छला गया है। तमाम विपरीत परिस्थितियों को सहते हुए भी औपनिवेशिक सत्ता के व्यवस्थित एवं सुनियोजित रणनीति एवं वर्तमान में भूमंडलीकरण के कुचक्रों के बीच आदिवासी लहू-लुहान होकर अपने जीवन-अस्तित्व को बचाए रख सकने में अक्षम हो रहे हैं। आदिवासियों के सुदूर एवं दुर्गम बस्तियों की ओर तो आज भी आधुनिकता या यूँ कहें वैज्ञानिकता का प्रकाश पहुँच नहीं पा रहा है। जहाँ कहीं पहुँचा है वह एकमात्र खनिजों के दोहन के निमित्त। समकालीन आदिवासी हिंदी कविता आदिवासी समाज के यथार्थ की इस भयावहता को मात्र संवेदनशीलता के धरातल पर नहीं बल्कि मानवाधिकारों के दायरे में भी परखती है। वह आदिवासियों के खिलाफ हो रहे सारे षडयंत्रों को अपना विषय बनाने के साथ-साथ उसके विरुद्ध प्रतिरोध की सुदृढ़ जमीन भी तैयार करती है। इस बात को लेकर इंकार नहीं किया जा सकता कि ठेकेदार, सत्ता-तंत्र एवं औद्योगिक-प्रतिष्ठानों के आकाओं के मजबूत गठजोड़ के कारण ही आदिवासी न केवल अपने जल, जंगल एवं जमीन से विस्थापित हो रहे हैं अपितु मजदूर, बेरोजगार एवं पशु समान अभिशप्त जिंदगी जीने के लिए भी मजबूर हैं। राष्ट्रीय हित के नाम पर आदिवासियों के जल, जंगल, जमीन तथा संस्कृति जैसे जीवन-स्रोतों एवं संसाधनों का छीना जाना आदिवासी हितों के सर्वथा प्रतिकूल हैं। राज्य एक ओर जहाँ आदिवासियों को संरक्षण देने की जिम्मेदारी का दिखावा मात्र कर रही है वहीं दूसरी ओर प्राकृतिक संसाधनों पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों के प्रति सहयोगपरक रवैया अपना रही है। पुनर्वास झुनझुना मात्र बनकर रह गया है। सुरेन्द्र कुमार नायक की कविता 'उलीहातू' की कुछ पंक्तियाँ देखें–

"अपने ही बीच / कुकुरमुत्ते से उग आए / दलालों के दमन-चक्र / विकास का बहाना / हीराकुंड से लेकर / सिंगुर, नंदीग्राम, भिलाई तक हमारी जमीन, हमारे जंगल / हड़पते / हमारे तथाकथित रक्षक।"[7]

भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में सबसे अधिक लहूलुहान होने वालों में आदिवासी समुदाय भी है। आदिवासी पूँजीवादी व्यवस्था के एजेंट से चाहे वह आदिवासी ही क्यों न हो घृणा करते हैं। अनुज लुगुन की एक कविता है 'बिरसु बाबा'। इसमें बिरसु (काव्य-नायक) और बिरसा मुंडा (ऐतिहासिक-चरित्र) आमने-सामने खड़े हैं। एक जिंदगी के लिए लड़ता बेबस आदिवासी है तो

दूसरा संघर्ष कर इतिहास नायक बना आदिवासी। परंतु दोनों विकसित होती पूँजीवादी व्यवस्था के सम्मुख अंततः पराजित होते हैं। बिरसु विस्थापित आदिवासी मजदूर की तरह ईंट भट्टे की चिमनी के भरभराकर गिरने से मरता है तो बिरसा गोरे और दिकु लोगों के जहर से। अंतर्विरोधों का ये आलम है कि खत्म होती नस्लों के बरक्स सभ्यताओं का विस्तार हो रहा है। इसलिए यहाँ विकास दर्द, त्रासदी एवं धरती का टुकड़ा बनकर उभरता है। राम दयाल मुंडा की भी एक कविता देखिए—

"बन गया हूँ गीदड़ / रहा दौड़ / शहर की ओर / मरने के पहले या कि एक पेड़ / विशाल शाल का / गिरा / जा रहा चीरा / बीच मशीन आरा देश के लिए / कहते हैं / विकास के लिए / अब तो और जल्दी / यह काम होगा विकास के विशेषज्ञ / दुनिया के विकसित देश / मेरे देश का साथ देंगे / ऋण में आकंठ / डूबे हैं तो क्या हुआ ? / सूद वापसी के लिए भी / और ऋण लेंगे यावज्जिवेत सुखं जीवेत् / ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत् / मुझको विकास का / दर्द यह असहय देर तक न सहना होगा / समय से पहले ही मेरा / काम तमाम होगा।"[8]

मुख्यधारा में शामिल करने के बहाने आदिवासियों की पहचान एवं अस्तित्व दोनों को मिटाने की साजिश आज सरकार, मीडिया एवं तकनीक की मदद से लगातार किया जा रहा है। पिछले कुछ वर्षों से आए दिन लगातार प्रमुख समाचार-पत्रों एवं पत्रिकाओं में आदिवासियों को बेदखल करते पूरे सिस्टम से लेकर बहुराष्ट्रीय कंपनियों के कुचक्र की घटनाएँ हम पढ़ और देख रहे हैं। परंतु यह सब मीडिया के पूँजीवादी चरित्र का होने के कारण सिर्फ घटनात्मक तथ्य के रूप में आता है और धीरे-धीरे नेपथ्य में चला जाता है। सरकार द्वारा प्रायोजित ऑपरेशन ग्रीन हंट की सच्चाइयों को उजागर करते अप्रैल 2010 के आउटलुक पत्रिका में लिखा गया है— "आज एक बार फिर छत्तीसगढ़, झारखंड, उड़ीसा और पश्चिम बंगाल के खनिज संपन्न जंगलों में बगावत फैल गई है, जो हिंदुस्तान के लाखों आदिवासी और जातीय लोगों का बसेरा है और कारपोरेट जगत का स्वप्नलोक।"[9] जमीन अधिग्रहण के मामले में पास्को जैसी बहुराष्ट्रीय कंपनियों का तो न्यायालय ने अनुबंध ही समाप्त कर दिया है। इस कंपनी की काली हरकतों का उल्लेख चर्चित उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' में भी हुआ है। हाल ही में आदिवासियों से संबंधित तीन और खबरें प्रकाश में आई हैं। पहली उड़ीसा की बोंदा और डोगरिया जैसी लुप्तप्राय आदिवासी जातियों का पर्यटन के नाम पर इस्तेमाल किए जाने की है तो दूसरी खबर महाराष्ट्र के आदिवासी प्रतिनिधि मंडल द्वारा वर्षों से आयोजित आदिवासी मेले 'शबरी कुंभ मेला' पर प्रतिबंध लगाने की माँग के साथ राष्ट्रपति को ज्ञापन सौंपने को लेकर थी। तीसरी महत्वपूर्ण खबर लंदन स्थत अखबार 'ऑब्जर्वर' द्वारा अंडमान निकोबार की जारवा आदिवासी महिलाओं की अर्द्धनग्न नृत्य करते हुए फुटेज जारी किए जाने से है, जिससे खासा विवाद पैदा हो गया है। उपरोक्त उदाहरणों से इतना तो साफ हो गया कि सरकार और विकास के ठेकेदारों द्वारा एक ओर जहाँ आदिवासी को बेदखल करने की कवायद तेज होती जा रही है वहीं दूसरी ओर पर्यटन के बहाने इन जनजातियों की सभ्यता-संस्कृति को बेचकर पैसा सरप्लस करने या अर्थतंत्र के माध्यम बनाने से भी उन्हें हिचक नहीं है। किसी को भी आदिवासियों की गरिमा उनकी अस्मिता एवं मानवाधिकारों की चिंता लेश मात्र भी नहीं है। आदिवासी कविताओं

की यह विशेषता है कि वह इन अंतर्विरोधी, संदर्भों को भी न केवल पकड़ने की कोशिश करती है अपितु उसका चित्रण करना अपनी प्राथमिक जिम्मेदारी मानती है। खत्म होती हुई नस्लों के बरक्स सभ्यता या विकास के इसी नंगेपन को हजारी लाल मीणा की चिंता को देखें–

"आज देख रहा था वह / इंसान के नंगेपन को / जो मान रहा था अब तक / स्वयं को नंगा इसी डर से वह शहर नहीं आता था / वह आया था / फिल्मों के पोस्टर देख रहा था हाँ वह वनवासी है / आदिवासी है / जिसे पूरा तन ढकने को / वस्त्र भी मयस्सर नहीं उसे क्या पता था कि / शहर भी इससे बेअसर नहीं / पर अंतर समझ गया था वह कि वह मजबूरी में नंगा है / और शहर आधुनिकता में।"[10]

आदिवासी जब अपने हक के लिए संघर्ष करता है या कोई हिंसक कदम ही उठा लेता है तो उस पर अलगाववादी होने का आरोप लगाया जाता है– "लेकिन यह कितनी बड़ी / विडंबना है / कितना बड़ा विरोधाभास / कि जब तुम इस देश के / नागरिक होने के नाते / माँगोगे अपना हक / कहलाओगे फिर तुम ही / अलगाववादी।"[11]

हिंसा का समर्थन होने के कारण आदिवासी कविताओं में नक्सली वामपंथियों का संदर्भ कई बार आता है। मसलन अनुज लुगुन की 'लालगढ़' कविता में नक्सली उपस्थिति को वाजिब ठहराया गया है तो रणेन्द्र की 'सलवा जुडुम' में सरकारी उत्पीड़न का चित्रण किया गया हैं। नक्सली राजनीति से संबंधित अनेक कविताएँ हैं परंतु आदिवासी कविता में जैसा कि आशीष त्रिपाठी ने स्पष्ट किया है– "नक्सली राजनीति का एक तरफा समर्थन नहीं है। उसे आदिवासी जीवन में उभरी उम्मीद की किरण भी माना गया है तो उसके कारण पड़ने वाले दबावों को भी अनदेखा नहीं किया गया है।"[12] कारण स्पष्ट है कि आपसी हितों के कारण ही आदिवासी पिस रहे हैं, और लाचार एवं बेबस हो रहे हैं। इसलिए यहाँ जंगल का सौंदर्य एवं विद्रोह दोनों मिलता है।

आदिवासी समाज के निर्माण में आरंभिक काल से ही पुरुषों से कई गुणा अधिक एवं सक्रिय योगदान महिलाओं का रहा है। अर्थव्यवस्था की रीढ़ मानी जाने वाली आदिवासी-महिलाओं को खेत-खलिहान, जंगल-पहाड़, हाट, बाजार, एवं शहर लगभग सभी जगहों में काम करते आसानी से देखा जा सकता है। परंतु सभ्य समाज की तरह या यूँ कहें उससे अधिक आदिवासी स्त्रियाँ अपने समाज में भी शोषित हैं। इसके कई कारण हैं। एक स्त्री होने के कारण तो दूसरा आदिवासी-स्त्री होने के कारण। आदिवासी स्त्रियों के शोषित होने का तो सबसे बड़ा कारण तो आदिवासी समाज में आज भी एक से अधिक पत्नी रखने का रिवाज भी है। संथाली-समाज के विश्लेषण के क्रम में निर्मला पुतुल लिखती हैं– "अगर संताली समाज में कोई औरत विधवा हो जाए और उसकी कोई संतान नहीं हो तो कुछ भी लांछन लगाकर संपत्ति हड़पने के लिए उसकी हत्या भी कर दी जाती है। प्रथागत कानून के तहत समस्त शक्तियों का मालिक पुरुष होता है। उसे पूरा अधिकार है कि वह एक को छोड़कर दूसरी, दूसरी को छोड़कर तीसरी तक को अपने घर लाकर बिठा सकता है। मामला सिर्फ मन भर जाने का है और दो-चार बच्चे हो जाने पर मन भर जाना इनके लिए आश्चर्यजनक नहीं है।"[13]

अंधविश्वासों के कारण आदिवासी समाज में स्त्रियों को कई बार तो "मनुष्य खाने वाली डायन कहकर भी दबाया जाता है। बिन बुद्धि की बड़-बड़ करने वाली स्त्री कहकर पंचायत में उसकी संभावित भागीदारी नकारी जाती है। दहेज देकर आदिवासियों को खरीदा जाता है और समाज तले स्त्री को वस्तु-समान और गुलाम समान व्यवहार किया जाता है।"[14] इसलिए निर्मला पुतुल, ग्रेस कुजूर, सरिता सिंह बड़ाईक, मीरा रामनिवास, रोज केरकेहट की कविताएँ आज के चमक-दमक से दूर साधारण आदिवासी स्त्रियों के दुख:-दर्द एवं अंतहीन शोषण के समूचे व्याकरण को समेटे हुए न केवल परंपरागत दृष्टि का विरोध करती हैं अपितु स्त्रियों के संघर्ष एवं स्वप्न को दुनिया की उन पगडंडियों तक, विकास के उन केंद्रों तक पहुँचाने का भी प्रयास करती हैं जहाँ पहुँचने से पहले ही अधिकांश दम तोड़ देती हैं।

"धरती के इस छोर से उस छोर तक / मुट्ठी भर चावल लिए दौड़ती-हाँफती-भागती / तलाश रही हूँ निरंतर अपनी जमीन अपना घर / अपने होने का अर्थ।"[15]

अपने होने का बोध यानी अस्तित्व का बोध तथा धरती के इस छोर से उस छोर तक अंधेरे के संकल्प को भेदने के कारण ही ग्रेस कुजूर 'सिनगी दई' तो हरिराम मीणा भीलणी (हाँ मेरा चाँद) को संवेदनशील अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। निर्मला पुतुल परंपरागत बंधनों से मुक्ति एवं आदिवासी स्त्रियों की यातना के साथ-साथ उन सभी लोगों का प्रतिकार करती हैं जो कविताओं तक में भी मात्र स्त्री-देह की तलाश करते हैं।

आदिवासी समाज में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की अधिक सक्रियता के कारण यह मिथ गढ़ लिया गया है कि यहाँ लैंगिक समानता है। अगर यही यथार्थ है तो "झारखंड के गठन के तीन साल के भीतर वहाँ डायन हत्या के 1765 मामले प्रकाश में नहीं आते। छत्तीसगढ़ में भी जब से 'सलवा जुडुम' आंदोलन शुरू हुआ लगभग 100 आदिवासी के साथ सामूहिक बलात्कार हुआ।"[16] इसलिए निर्मला पुतुल की दिन भर मरती-खटती सुगिया डब "सोचती है अक्सर / यहाँ हर पाँचवा आदमी उससे / उसकी देह की भाषा में क्यों बतियाता है।"[17] तो सभ्य समाज के पास इस बात का कोई उत्तर नहीं हैं। यहाँ 15 जुलाई 2004 को मणिपुर की महिलाओं द्वारा इंसाफ की माँग करते हुए असम रायफल्स के मुख्यालय के सामने निर्वस्त्र होकर जो प्रदर्शन हुआ था उसका नारा भी देखना महत्वपूर्ण है। उसमें लिखा था— "भारतीय सेना आओ, हमसे बलात्कार करो, हमारा माँस नोंचो।" स्पष्ट है स्त्री होने के कारण आदिवासी-महिलाओं का शोषण तो होता ही है, परंतु व्यवस्था द्वारा उनकी रक्षा के जो उपाय किए जा रहे हैं इस पर भी सवालिया निशान खड़ा होता है। इसलिए स्त्री-शोषण का संदर्भ कितने आयामों तक और किस निर्ममता तक व्याप्त है इसे समकालीन आदिवासी कविताओं के द्वारा आसानी से समझा जा सकता है। निर्मला पुतुल अकारण नहीं पूछती हैं—

"तन के भूगोल से परे / एक स्त्री के / मन की गाँठें खोलकर / कभी पढ़ा है तुमने उसके भीतर का खौलता इतिहास ...क्या तुम जानते हो एक स्त्री के समस्त रिश्ते का व्याकरण / बता सकते हो तुम एक स्त्री को स्त्री-दृष्टि से देखते उसके स्त्रीत्व की परिभाषा / अगर नहीं तो फिर जानते क्या हो तुम / रसोई और बिस्तर के गणित से परे एक स्त्री के बारे में।"[18]

आदिवासी समाज की समस्याओं पर गैर आदिवासी रचनाकारों ने भी गंभीर, समाजशास्त्रीय एवं कहीं से भी आदिवासियों से कमतर लेखन नहीं किया है। वर्चस्व के विरुद्ध अस्मिता के प्रत्यक्ष जीवनानुभवों की गतिशीलता को प्राथमिकता देने के कारण ही लगभग गैर आदिवासी कवियों की कविताओं में शोषण के शिकार आदिवासी-लोग किस प्रकार अभिशप्त हैं, उसका सजीव चित्रण हुआ है। कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह हो या ज्ञानेन्द्रपति, चंद्रकांत देवताले हों या विनोद कुमार शुक्ल, एकांत श्रीवास्तव हों या फिर रणेन्द्र इससे पूरी तरह सहमत हैं कि तमाम सरकारी योजनाओं एवं लोक लुभावन नीतियों ने लगातार आम जनता को छलने का काम किया है। उन्हें भाषणों, आश्वासनों के माध्यम से बड़े-बड़े सपने तो दिखाए गए मगर उसे साकार होने के लिए जिन प्रयासों की जरूरत थी उसकी ओर गंभीरता से कदम ही नहीं उठाया गया। विकास की योजनाएँ तो साधारण गाँवों की सीमा में प्रवेश करने से पहले ही दम तोड़ देती हैं। इसलिए ये गैर आदिवासी कवि, आदिवासियों की सांस्कृतिक संपन्नता, सामूहिक तथा प्रकृतिपरक जीवन-दृष्टि एवं अद्‌भुत जुझारू क्षमता के साथ-साथ अभाव एवं विपन्नता के अथाह सागर वाली जीवन-शैली पर सिर्फ कुतुहलवश नहीं बल्कि उसके कारणों में उतरकर शब्दबद्ध करते हैं—

"इस आदिवासी गाँव के आँगन से गुजरती हुई यह सड़क / अत्याचारियों के गुजरने का रास्ता है / यह इनके पैरों से नहीं बना / यह इनके पैरों के लिए नहीं बना / बड़े-बड़े रोड रोलर आए थे लुटेरे वाहनों के आने से पहले फिर आए पीछे-पीछे / अगली सुबहों में / भारवाही वाहन / रिंगें क्रेनें चौड़े पंजर की ट्रकें ट्रेलर लगे ट्रैक्टर / बसें कारें हाकिम हुक्का / आए तमाम इस मिट्टी की छाती से / खनिज खंखोरने वाले तातारी लुटेरे।"[19]

भूमंडलीय यथार्थ का एक सच यह भी है कि मनुष्य जितना अधिक बाजारू संस्कृति की ओर धकेला गया वह उतना ही अपनी संस्कृति और जड़ों से बेगाना होता गया। हालाँकि बाजार में हर चीज ब्रांड और पैकेज में तब्दील होती जा रही है। परंतु ये सारी सुविधाएँ पर्यटन के निमित्त विकसित किए गए पहाड़ों, जंगलों तक में ही मिलती है। विशुद्ध आदिवासी गाँवों (सुदूर वाले) में आज भी नोन (नमक) तेल और कनकी ही बिक रही है। देवताले का कोरी गाँव हो या ज्ञानेन्द्रपति का छोटा नागपुर के ठिगने पहाड़ों वाला गाँव या एकांत श्रीवास्तव के कालाहांडी का दुरूस्वप्न। सभी जगह आदिवासी कभी घास या पेड़ के छिलके खाकर मर रहे हैं तो कभी साजिशों के शिकार होकर। भूख के वास्तविक अंधेरों से युक्त इन गाँवों में गांधी-वांधी की भी कोई पूछ नहीं है, स्कूल, थाने जैसी कोई व्यवस्था नहीं है। सरकार इस पर ध्यान देने के बजाय हथियार खरीदने की होड़ (2010-11 में भारत विश्व में सर्वाधिक हथियार खरीदने वाला देश था) में लगी हुई है। विपन्नता के निचोड़ में डूबे दारुण-दृश्य के आदिवासी जीवन पर चंद्रकांत देवताले की कविता 'इधर मतर आना : यह काँटी गाँव है' की कुछ पंक्तियाँ देखें—

"किसी महाराणा प्रताप के नहीं वंशज ये नहीं कोई स्मृति उत्सव, न किसी गिनीज बुक में नाम दर्ज कराने को बेताब / फिर भी महिने भर से घास की रोटी / खाने को मजबूर अपने कोरी गाँव

के लोग / जो होता बाढ़ भूकंप जैसा इलाका कोई / तो आती पुष्पक विमानों से राहत की पोटली / टपका जाते भाग्य विधाता / पर मुद्दत हुई काँटी गाँव में दर्शन देने / नहीं आया है कोई अन्न का भी एक दाना..."[20]

कुल मिलाकर देखें तो समकालीन आदिवासी हिंदी कविताएँ आजाद भारत में शक्तिशाली होते गए नवउदारवादी राजनीतिक सैद्धांतिकी, लोलुप पूँजीवाद एवं संस्कृति की लोकप्रिय व्याख्याओं जैसों के समक्ष बेबस, लाचार और लगभग लुप्तप्राय होती जा रही आदिवासियों की चिंताएँ हैं। इनका प्राथमिक लक्ष्य आदिवासियों पर पड़ रहे उन अमानवीय एवं भयावह दबावों को प्रकट करना है जिनसे आदिवासी न केवल अपने जल, जंगल और जमीन छोड़ने को विवश हैं अपितु उनका अस्तित्व ही खतरे में पड़ता जा रहा है। इसलिए आदिवासी हिंदी कविता में एक ओर आदिवासी समाज की अदम्य जिजीविषा, संघर्ष की बुनियादी शक्ति, प्रकृतिपरक एवं सामूहिक जीवन-पद्धति जैसी विशेषताओं का सहज एवं स्वभाविक चित्रण हुआ है वहीं दूसरी ओर वैश्विक सभ्यता की सर्वग्रासी-प्रकृति, सामाजिक विकास और आदिवासी अस्तित्व के अंतर्द्वंद्व का भी रेखांकन हुआ है। अकारण नहीं है कि अरिंदम सेन ने अपने पुस्तक 'भारत में माओवाद, राज्य और कम्युनिस्ट आंदोलन' में आदिवासियों के जमीन अधिग्रहण को 'नव उपनिवेशवाद' की संज्ञा दी है। इसलिए आदिवासी हिंदी कविताएँ न केवल समकालीन हिंदी कविता के भूगोल को व्यापकता प्रदान करती है अपितु उसके अधिक लोकतांत्रिक बनने में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर उन विचारों को भी खारिज करती है जिसमें साहित्य में हाशिए की उपस्थिति को लेकर अभी भी असमंजस की स्थिति दिखाई पड़ती है।

संदर्भः

1. तुमराम विनायक, आदिवासियों की अब तक की साहित्य-साधना, युद्धरत आम आदमी पूर्णांक 61, पृ. 18
2. कमलेश्वर, आदिवासी अस्तित्व, अस्मिता और साहित्य, युद्धरत आम आदमी पूर्णांक 80, पृ. 18
3. रणेंद्र, ग्लोबल गाँव के देवता, पृ. 43, 80
4. गुप्ता रमणिका, आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, पृ. 67
5. वही, पृ. 48
6. प्रसाद कमला (संपा), प्रगतीशील वसुधा, अप्रैल-जून 2010, पृ. 185
7. नायक सुरेन्द्र कुमार, उलीहातू, अरावली घोष आदिवासी कविता अंक पृ. 9
8. गुप्ता रमणिका, आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, पृ. 42

9. मेहता विनोद (संपा), आउटलुक अप्रैल 2010, पृ. 14 दिल्ली संस्करण

10. गुप्ता रमणिका, आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, पृ. 54

11. वही, पृ. 50

12. त्रिपाठी आशीष, आदिवासी जीवा की कविताएँ, वसुधा अप्रैल-जून 2010, पृ. 179

13. पुतुल निर्मला, समकालीन जनमत, सितंबर 2003, पृ. 56

14. सोनवणे वाहरू, आदिवासी साहित्य की अस्मिता, पहल नवंबर 92-अगस्त 93, पृ. 160

15. पुतुल निर्मला, नगाड़े की तरह बजते शब्द, पृ. 30

16. चौबे देवेन्द्र, कुमार दीपक, हाशिये का वृतांत, पृ. 379

17. पुतुल निर्मला, नगाड़े की तरह बजते शब्द, पृ. 81

18. वही, पृ. 8

19. ज्ञानेन्द्रपति, संशयात्मा, पृ. 20-21

20. देवताले चंद्रकांत, कवि ने कहा (चुनी हुई कविताएँ), पृ. 127-128

❑❑

छायावाद और पंडित मुकुटधर पाण्डेय का साहित्यिक अवदान

—बीरू लाल बरगाह

छायावाद कहते ही एक ऐसे समय का बोध होता है कि उस समय के केंद्र में छाया हो। छायावाद का समय 1918-1936 ई. तक माना जाता है। उस समय जो काव्यांदोलन चला उसे हिंदी में छायावाद कहते हैं। हिंदी साहित्य का स्वर्णयुग भक्तिकाल को माना जाता है और आधुनिक हिंदी (खड़ी बोली) का स्वर्णयुग 'छायावाद' को माना जाता है। पंडित मुकुटधर पाण्डेय ही 'छायावाद' के प्रवर्तक हैं।

बीसवीं शताब्दी की महान विभूतियों में से एक पद्मश्री साहित्य वाचस्पति पंडित मुकुटधर पाण्डेय जी संक्रमण काल के सर्वाधिक सामर्थ्यवान कवियों में अग्रगण्य हैं। द्विवेदी युग और छायावादी युग के बीच की एक महत्वपूर्ण कड़ी पाण्डेय जी की काव्य यात्रा को समझे बिना खड़ी बोली हिंदी के विकास को सही ढंग से नहीं समझ सकते हैं। डॉ. बलदेव जी कहते हैं— "पाण्डेय जी ने द्विवेदी युग के शुष्क उद्यान में नूतन सुर भरा तथा नवबंसत की अगुवानी कर युग प्रवर्तन का ऐतिहासिक कार्य किया।"[1] पाण्डेय जी के काव्य में द्विवेदी एवं छायावादी युगीन काव्य की सभी विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं। एक ओर उनके काव्य में द्विवेदी युग के महान आदर्श जिसमें लोकहित प्रमुखता से अभिव्यक्त होता है, तो वहीं दूसरी ओर आंतरिक सुंदरता, सूक्ष्म चित्रण, किसी वस्तु या प्रकृति का असाधारण चित्र आदि छायावादी विशेषताएँ दृष्टव्य होती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि पाण्डेय जी के काव्य लेखन में स्वच्छंदतावाद और आदर्शवाद जैसी दो विरोधी प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती है। पाण्डेय जी सर्वप्रथम काव्य की ओर उन्मुख हुए, उसके पश्चात् वे विचारक, साहित्य समीक्षक, अनुवादक और गद्य साहित्य लेखक के रूप में प्रसिद्ध हुए। उनकी 'कुररी के प्रति' रचना को पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी जी ने प्रथम छायावादी कविता के रूप में स्वीकार किया।

पंडित मुकुटधर पाण्डेय जी का जन्म 30 सितंबर सन् 1895 ई. को छत्तीसगढ़ के जांजगीर-चांपा जिले के बालपुर नामक ग्राम में हुआ था। महानदी के तट प्रदेश में बसा यह गाँव

रायगढ़ सारंगढ़ मार्ग पर चन्द्रपुर की पूर्व दिशा में स्थित है। महानदी के पुल से देखने पर घनी अमराइयों से झाँकता हुआ बालपुर गाँव मानो प्रकृति की गोद में बैठा हुआ सा प्रतीत होता है। महानदी की सुंदरता पर मुग्ध होकर पाण्डेय जी लिखते हैं–

"कितना सुंदर और मनोहर, महानदी यह तेरा रूप।
कलकल मय निर्मल जलधारा; लहरों की है छटा अनूप॥" महानदी-1

पंडित मुकुटधर पाण्डेय ने सन् 1920 ई. में जबलपुर मध्यप्रदेश से निकलने वाली पत्रिका 'श्रीशारदा' में 'हिंदी में छायावाद शीर्षक' से चार निबंधों की एक लेखमाला छपवाई। इन चारों निबंधों में पाँच बातों की ओर ध्यान इंगित किया है जिसमें वैयक्तिकता, स्वातंत्र्य बोध, रहस्यवादिता, शैलीगत वैशिष्ट्य और अस्पष्टता है।

'छायावाद' का नामकरण पंडित मुकुटधर पाण्डेय जी ने किया है। डॉ. विनय मोहन शर्मा को एक पत्र में लिखा है– "छायावाद नाम सर्वथा मेरा गढ़ा हुआ है और मैंने परोक्ष सत्ता के प्रति अस्पष्ट रूप से व्यक्त भावों की रचना के लिए इसे प्रयुक्त किया था।"[2] 'कुररी के प्रति' रचना के बारे में उनका कहना है– "रात्रि में कुररी के करुण स्वर सुनकर बिस्तर पर पड़े-पड़े मैंने मन में ही कुररी के प्रति की रचना कर डाली। तब मुझे आश्चर्य हुआ कि छायावाद लिखा नहीं जाता, अनुभूति द्वारा अपने आप ही लिख जाता है।"

श्रीशारदा 1920 में दूसरा लेख है 'छायावाद क्या है?' प्रारंभिक पंक्तियाँ हैं– "हिंदी में यह बिल्कुल नया शब्द है। अंग्रेजी या पाश्चात्य साहित्य अथवा बंग साहित्य की वर्तमान स्थिति की कुछ भी जानकारी रखने वाले समझ जाएँगे कि यह शब्द Mysticism के लिए आया है।"[3]

यूरोपीय पुनर्जागरण की शुरूआत इटली में हुई है। इसी प्रकार भारतीय पुनर्जागरण की शुरूआत बंगाल में। बंगाल में ईसाई संतों द्वारा ईश्वर की प्रार्थना करते समय उन्हें अपने ऊपर ईश्वर की छाया का आभास होता था जिसे फैन्टेसमाटा (fantasmata) कहते हैं। इस तरह की आध्यात्मिक छाया का भान, अनुभूति रवीन्द्रनाथ टैगोर की कविताओं में दिखाई पड़ती है। रवीन्द्रनाथ टैगोर को उनकी कृति 'गीतांजलि' के लिए सन् 1913 ई. में साहित्य का प्रथम नोबल पुरस्कार मिला और हिंदी के कवियों ने रवीन्द्रनाथ टैगोर की कविताओं का अनुकरण किया। तत्पश्चात् 'छायावाद' नाम से आंदोलन चल पड़ा।

छायावाद विषयक लेखमाला से पहले मार्च 1920 ई. हितकारिणी पत्रिका में छायावाद की संक्षिप्त परिभाषा 'चरणप्रसाद' नामक कविता में दी है–

"भाषा क्या वह छायावाद
है न कहीं उसका अनुवाद"[4]

छायावाद शब्द का प्रथम प्रयोग सन् 1920 ई. के आसपास "द्विवेदी युग के वयोवृद्ध साहित्यकारों और आलोचकों ने निंदा या घृणा के भाव से नहीं 24-25 वर्ष के एक अधकचरे नवयुवक ने सद्भावना पूर्वक किया था।"[5] ये नवयुवक और कोई नहीं स्वयं मुकुटधर पाण्डेय जी थे।

पंडित मुकुटधर पाण्डेय और छायावादी काव्य की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि उसने खड़ी बोली हिंदी को आधुनिक भावबोध से युक्त रचनात्मक और समृद्धशाली काव्यभाषा बनाने की पहल की। 'हिंदी में छायावाद' निबंध 'कवि स्वातंत्र्य' में पाण्डेय जी ने रीति ग्रंथों की परतंत्रता से मुक्त होकर काव्य में व्यक्तित्व तथा भाव, छंद, भाषा के प्रकाशन रीति में मौलिकता की आवश्यकता पर जोर दिया है।

"छायावाद एक ऐसी मायामय सूक्ष्म वस्तु है कि शब्दों द्वारा उसका ठीक-ठीक वर्णन करना असंभव है। शब्द अपने स्वाभाविक मूल्य खोकर सांकेतिक चिह्न मात्र हुआ करते हैं।"[6]

छायावाद के कवि वस्तुओं को असाधारण दृष्टि से देखते हैं। उनकी रचना की संपूर्ण विशेषताएँ उनकी इस दृष्टि पर आधारित रहती है, वह क्षणभर में वस्तुओं को बिजली की तरह स्पर्श करती हुई निकल जाती है। अस्थिरता और क्षीणता के साथ उसमें एक तरह की विचित्र उन्मादकता और अंतरंगता होती है जिसके कारण वस्तु उसके प्राकृतिक रूप से भिन्न रूप में दिखाई पड़ती है। यह अंतरंग दृष्टि ही छायावाद की विचित्र प्रकाशन रीति का मूल है। उसमें किसी वस्तु या दृश्य का ज्यों का त्यों चित्र लिया जाता है पर शब्द ऐसे वेगयुक्त होते हैं कि भाषा उड़ती हुई जान पड़ती है। ऐसी रचनाओं में शब्द अपने वास्तविक मूल्य खोकर सांकेतिक चिह्न मात्र होते हैं।

इस प्रकार मुकुटधर पाण्डेय जी की सूक्ष्म दृष्टि ने छायावाद की मूलभावना आत्मनिष्ठ अन्तदृष्टि को पहचान लिया था। 'हिंदी में छायावाद' इस निबंध के माध्यम से छायावाद पर लगाये गए अस्पष्टता आदि आरोपों का खंडन करते हुए लिखते हैं– "छायावाद की आवश्यकता हम इसलिए समझते हैं कि उससे कवियों को भाव प्रकाशन का एक नया मार्ग मिलेगा। इस प्रकार के अनेक मार्गों अनेक रीतियों का होना ही उन्नत साहित्य का लक्षण है।"[7]

मुकुटधर पाण्डेय की रचनाओं में मन के बंधन की पीड़ा की अभिव्यक्ति है जो स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए छटपटा रही है। 'काव्य स्वातंत्र्य' में पाण्डेय जी के शब्द हैं-संसार में प्रत्येक मनुष्य स्वतंत्रता चाहता है, फिर भी उसे मानसिक भूमि में परतंत्र रहना क्यों पसंद होगा यह बात समझ में नहीं आती।

डॉ. नामवर सिंह का कथन है– "छायावाद का ऐतिहासिक एवं तात्विक विवेचन छायावाद पर पहला निबंध होने के साथ ही एक अत्यंत सूझबूझ प्रभावशाली समीक्षा भी है। इस निबंध का महत्व ऐतिहासिक ही नहीं, स्थायी भी है।"[8] पाण्डेय जी ने भावों की छाया या अस्पष्ट-अप्रत्यक्ष स्वरूप के लिए सांकेतिक अभिव्यक्ति हेतु छायावाद नाम सुझाया। वे छायावाद की क्लिष्टता को सरल बनाकर जन सामान्य में लोकप्रिय बनाने के पक्षपाती रहे। पाण्डेय जी के 'कविता' शीर्षक निबंध काव्यादर्श और छायावाद के पर्याय को प्रमाणित करते हैं। वे काव्य में लोकगीतों की सरसता व श्रम-शक्ति का समावेश करना चाहते थे। उनका ध्यान गाँव में काम करने वाले गरीब किसानों, मजदूरों की ओर गया। उन्होंने श्रम की महिमा गायी–

"धन्य तुम ग्रामीण किसान
सरलता, प्रिय औदार्य निधान
छोड़ जन संकुल नगर निवास
किया क्यों विजन ग्राम में गेह
नहीं प्रासादों की कुछ चाह
कुटीरों से क्यों इतना नेह।" –किसान

पाण्डेय जी काव्यकला को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि– हृदयग्राही भाषा चित्र का नाम ही काव्य है, कविता प्रभावोत्पादक और मनोरंजक होती है। सौंदर्य वर्णन के सिवाय कविता में कुछ ऐसी विशेषता होनी चाहिए कि उसके पाठ से सर्वत्र ईश्वरीय भाव अथवा एक अदृश्य शक्ति या किसी अखंड नियम की व्यापकता या प्रधानता हो। साथ ही वे कहते हैं कि मानव जीवन का प्रवाह जब आध्यात्मिक भावों के समुद्र में जाकर लीन हो जाता है, तब वह अपने अंतिम लक्ष्य पर पहुँच जाता है।

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् भारतीय जनता निराशा के सागर में डूब रही थी। ब्रिटिश सत्ता के अत्याचार के कारण कवियों में अंसतोष और विद्रोह के भाव थे, वे इसे व्यक्त करने में असमर्थ रहे। इस संक्रमण काल में कविता शीर्षक निबंध के अंतर्गत पाण्डेय जी ने नवयुवक कवियों को प्रोत्साहित करते हुए लिखा है– "हमारे कवि और लेखक इस ओर सचेष्ट हैं और वे देश की आवश्यकता को समझकर जन जागरण, एकता वीरता और स्वतंत्रता आदि के भाव बराबर फैला रहे हैं। यह बहुत ही शुभ लक्षण है और शीघ्र ही अभीष्ट फल की प्राप्ति होगी।"[9]

देश की दुर्दशा पर चिंता व्यक्त करते हुए कवि आर्य संतानों को जागृत करने का संकल्प लेते हैं। उठो चेतो की यह पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं–

"उठो हे आर्य संतानों, सबेरा हो चुका प्यारे।
समय यह है न सोने का तजो आलस्य को भाई।
लगो कर्तव्य में अपने भगे दारिद्रय दु:खदाई।
उदय हो सौख्य सूरज का गगन में लालिमा छाई।" –उठो चेतो

पंडित मुकुटधर पाण्डेय की रचनाओं में साहित्य मनीषियों ने छायावाद की झलक देखी और सराहा। पाण्डेय जी ने श्री शारदा पत्रिका में विस्तार से प्रकाश डाला जो उनके चिंतन और अध्ययन की अमूल्य निधि है। छायावाद के प्रवर्तक कवि उन्हें माना जाता है पर वे विनम्रतापूर्वक कहते हैं कि "मेरी रचनाओं में चाहे लोग जो भी खोज ले परंतु वे विशुद्ध रूप से मेरी रचनाएं आंतरिक सहज अभिव्यक्ति मात्र है। उनमें न तो कल्पना की ऊँची उड़ान है न विचारों की उलझन, न भावों की दुरूहता। उनमें उर्दू की चीजों की चुलबुलाहट या बांकपन भी नहीं। वह सरल सहज उद्गार मात्र हैं।"[10]

पंडित मुकुटधर पाण्डेय ने 'हिंदी में छायावाद' नामक निबंध के माध्यम से 'छायावाद' का प्रर्वतन किया। पाण्डेय जी का पद्य और गद्य दोनों में समान अधिकार है। उनकी रचनाओं की सूची प्रस्तुत है—

1. पूजाफूल (काव्य संग्रह) – ब्रह्म प्रेस, इटावा : 1916
2. शैलबाला (अनूदित उपन्यास) – हरिदास एंड कंपनी कलकत्ता, 1916
3. परिश्रम (निबंध संग्रह) – हरिदास एंड कंपनी कलकत्ता : 1917
4. लच्छमा (अनूदित उपन्यास) – हरिदास एंड कंपनी कलकत्ता : 1917
5. हृदयदान (कहानी संग्रह) – गल्पमाला, बनारस : 1918
6. मामा (अनूदित उपन्यास) – रिखवदास वाहिनी एंड कंपनी, उड़ीसा : 1924
7. छायावाद एवं अन्य निबंध – म.प्र. साहित्य सम्मेलन, भोपाल : 1979
8. स्मृतिपुँज – तिरूपति प्रकाशन, हापुड़ : 1983
9. विश्वबोध – श्री शारदा साहित्य सदन, रायगढ़ : 1984
10. छत्तीसगढ़ी मेघदूत – (अनूदित काव्य) – छत्तीसगढ़ लेखक संघ, रायगढ़ : 1984
11. हिंदी में छायावाद – तिरुपति प्रकाशन, हापुड़ : 1984

पंडित मुकुटधर पाण्डेय जी से संबंधित अनेक संपादित पुस्तकों में प्रमुख हैं—

1. मुकुटधर पाण्डेय: व्यक्ति एवं रचना–सं. महावीर अग्रवाल, श्री प्रकाशन, दुर्ग (छ.ग.) : 2001
2. पंडित मुकुटधर पाण्डेय चयनिका–छत्तीसगढ़ राज्य हिंदी ग्रंथ अकादमी, रायपुर : 2007

पंडित मुकुटधर पाण्डेय जी का काव्य सरल और सहज हैं। उनमें अंत:सौंदर्य और आध्यात्मिक भावनाओं की प्रमुखता है जो छायावादी काव्य की प्रमुख विशेषता है। उनके पास सरल अनुभूति जिज्ञासाएँ हैं, शब्दों का आडंबर नहीं है। कबीरदास की भांति वे लिखते हैं—

यह दुनिया बाजार रूप है,
लोग बाजारी हैं भाई।
काम, क्रोध, मद, लोभ जनति है
वस्तु यहाँ बिकने आई।

कवि को ईश्वरीय सत्ता का आभास पतितों के दुख में, दीन–हीन के अश्रु नीर में, कृषक के हल में और कवि के काव्य में मिलता है—

"दीन हीन के अश्रु नीर में
पतितों के परिताप पीर में

सरल स्वभाव कृषक के हल में
पतिव्रता रमणी के बल में
श्रम सीकर से सिंचित धन में
तेरा मिला प्रमाण।"   – विश्वबोध

छत्तीसगढ़ की मिट्टी से उन्हें विशेष अनुराग था। यहाँ के प्राकृतिक सौंदर्य नदी-पहाड़, पशु, पक्षी से लगाव था। महानदी कविता की पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं–

"कितना सुंदर और मनोहर महानदी यह तेरा रूप
कलकल मय निर्मल, जलधारा, लहरों की है छटा अनूप
तुझे देखकर शैशव की स्मृतियाँ उर में उठती जाग
लेता है कैशोर काल का अँगड़ाई अल्हड़ अनुराग।"   –महानदी

पाण्डेय जी के काव्य संग्रह पूजाफूल में महानदी ग्राम गुणगान, फूल, गुलाब, प्रभात, संध्या षटऋतुओं का वर्णन आदि प्रकृति परक कविताएँ हैं। प्रकृति के प्रति कवि की गहरी आत्मीयता है–

"हरित पल्लवित नववृक्षों के दृश्य मनोहर।
होते मुझको विश्व बीच है जैसे सुखकर।
सुखकर वैसे अन्य दृश्य होते न कभी हैं।
उनके आगे तुच्छ परम वे मुझे सभी हैं॥"   – मेरा प्रकृति प्रेम

ग्राम्य जीवन का वर्णन करते हुए कवि ने प्राय: पनघट और पनिहारिनों का वर्णन किया है। इस प्रसंग में पाण्डेय जी ने सहज भावों को ही अभिव्यक्ति दी है–

"पनिहारिन पानी लेने को,
पंक्ति बाँधकर जाती हैं।
सिर पर नीर पूर्ण मिट्टी के,
कलसे ले-ले आती हैं॥"

रात्रि के समय कुररी के करुण विलाप को सुनकर पाण्डेय जी का हृदय करुणा से भर उठा। मन ही मन 'कुररी के प्रति' काव्य की रचना कर डाली। 'कुररी के प्रति' हिंदी काव्य साहित्य की एक ऐसी अमर रचना है जिसने युग निर्माण का कार्य किया है। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने 'कुररी के प्रति' रचना को प्रथम छायावादी काव्य माना है। पंक्ति प्रस्तुत हैं–

"बता मुझे ऐ विहग विदेशी अपने जी की बात
पिछड़ा था तू कहाँ, आ रहा जो कर इतनी रात।"   – कुररी के प्रति

गद्य और पद्य दोनों में पाण्डेय जी का समान अधिकार है। हिंदी के अतिरिक्त संस्कृत, उड़िया, बंगला और अंग्रेजी भाषा का भी ज्ञान था। उनकी प्रकाशित गद्य है– 'पूजाफूल', 'शैलबाला',

'मामा', 'लच्छमा', 'परिश्रम' और 'हृदयदान' है। उन्होंने महाकवि कालिदास की कालजयी कृति 'मेघदूतम्' का छत्तीसगढ़ी में भावपूर्ण अनुवाद किया। जो छत्तीसगढ़ी भाषा के संवर्धन और विकास में मील के पत्थर सिद्ध होते हैं। कथा के प्रारंभ में कहा गया है–

"यक्ष एक हर अपन काम मा
गलती कछु कर डारिस
तब कुबेर हर शाप छोड़ अलका ले
ओला निकारिस।" –मेघदूत (छत्तीसगढ़ी)

पंडित मुकुटधर पाण्डेय काव्य चर्चा के दौरान कालिदास, भवभूति, तुलसीदास, कबीर, मीरा, सूरदास, शेली, मेंटरलिंक, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, माइकेल मधुसूदन दत्त, फकीर मोहन सेनापति, मिर्जा गालिब के जीवन से लेकर उनके साहित्य की चर्चा करते थे। अपने समकालीन कवियों में मैथिलीशरण गुप्त और प्रसादजी की चर्चा करते थे। महाकवि कालिदास और तुलसीदास उनके सबसे प्रिय कवि हैं। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' और 'विनय पत्रिका' उनके सर्वाधिक प्रिय ग्रंथों में से हैं। पाण्डेय जी महात्मा गांधी जी के विचारों से प्रभावित थे। गांधी पर वे लिखते हैं–

"तुम शुद्ध बुद्ध की परंपरा में आये
मानव थे ऐसे, देख के देव लजाये
भारत के ही क्यों, अखिल लोक के भ्राता
तुम आये बन दलितों के भाग्य विधाता।" – गांधी के प्रति

इस प्रकार पाण्डेय जी के साहित्य में भाषा को अपनी संस्कृति और संवेदनात्मक ऊर्जा के अमूर्त संसार को व्यक्त करने की बिंबात्मक रचना, भावात्मक तथ्यों को अभिव्यक्त करने वाली सांकेतिकता, संवेदना की तीव्रता को प्रेषित करने वाली प्रतीकात्मकता उन्होंने प्रदान की है। भाषा के प्रति परंपरागत वस्तु दृष्टि के बंधनों को तोड़कर उन्होंने अपनी भाव दृष्टि से वस्तु को नए रूप में प्रस्तुत किया। शब्दों का अर्थ, भावबोध और संवेदना के नवीन संस्कारों के अनुरूप ढालने की एकाग्र कोशिश पंडित मुकुटधर पाण्डेय ने की। इसके लिए हिंदी साहित्य जगत में वे सदैव प्रासंगिक रहेंगे। अपने देशकाल के परिवर्तित जीवन संदर्भों, आशा, आकांक्षाओं और यथार्थ के बदलते सरगम के अनुरूप एक नई सामाजिक और विश्व दृष्टि से विकसित करने की भरसक कोशिश की है।

पाण्डेय जी अपने काव्य में प्रकृति के माध्यम से मानव की स्वतंत्रता की ओर संकेत करते हैं क्योंकि प्रकृति के सारे उपादान पर्वत, नदी, झरने, पेड़-पौधे, चिड़ियाँ, सूर्य का प्रकाश, जल, वायु आदि स्वतंत्र हैं, इन्हें कोई गुलाम नहीं बना सकता है।

'हिंदी में छायावाद' और 'कुररी' जैसी अमर ऐतिहासिक रचना का सृजन कर 6 नवंबर 1989 ई. को पंचतत्व में विलीन हो गए। जीवन के अंतिम क्षण के संबंध में पाण्डेय जी की निम्न पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं–

"जीवन की संध्या में अब तो है केवल इतना मन-काम
अपनी ममतामयी गोद में, दे मुझको अंतिम विश्राम॥
चित्रोत्पले, बता तू मुझको वह दिन सचमुच कितना दूर।
प्राण प्रतीक्षारत लूटेंगे, मृत्यु पर्व का सुख भरपूर॥" महानदी-1

खड़ी बोली हिंदी के विकास, उत्कर्ष में छायावाद और पंडित मुकुटधर पाण्डेय के साहित्य की प्रासंगिकता सदैव बनी रहेगी।

व्यक्ति स्वातंत्र्य और रूढ़ियों से विद्रोह की भावना ने पाण्डेय जी को अपना एक निजी और वैयक्तिक मुहावरा तलाश करने के लिए प्रेरित किया था, वह अपनी रणनीति में नितांत व्यक्तिगत, व्यक्तिनिष्ठ और व्यक्तिवादी होता गया। पाण्डेय जी का साहित्य आधुनिकता के सारे प्रतिमानों पर खरा उतरता है और वह पूर्ण रूप से आधुनिक हैं। इसलिए वह सदैव प्रासंगिक रहेंगे। नामवर सिंह जी का छायावाद के परिप्रेक्ष्य में कथन है– "छायावाद उस राष्ट्रीय जागरण की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है जो एक ओर पुरानी रुढ़ियों से मुक्ति चाहता है और दूसरी ओर विदेशी पराधीनता से।"[11] नामवर सिंह ने मुक्ति को केंद्र में रखा और स्वाधीनता की बात कही। रूढ़ियाँ समाज को कमजोर बना रहीं थीं विदेशी पराधीनता अर्थात् अंग्रेजों की गुलामी से मुक्ति। इन सामयिक तथ्यों के माध्यम से वे 'छायावाद' को युग संदर्भ से जोड़ते हैं।

संदर्भः

1. पंडित मुकुटधर पाण्डेय चयनिका, (प्रस्तावना से) प्रो. दिनेश पाण्डेय डॉ. बिहारी लाल साहू
2. साहित्यान्वेषण, विनय मोहन शर्मा; पृ. 14-15
3. छायावाद और मुकुटधर पाण्डेय, सं डॉ. बलदेव साव; पृ. 136
4. पंडित मु. पा. चयनिका, (प्रस्तावना से) सं. प्रो. दिनेश पाण्डेय डॉ. बिहारी लाल साहू
5. छायावाद और मुकुटधर पाण्डेय, संपादक डॉ. बलदेव साव; पृ. 138
6. पंडित मु. पा. चयनिका, संपादक प्रो. दिनेश पाण्डेय डॉ. बिहारी लाल साहू; पृ. 139
7. वही, पृ. 151
8. मुकुटधर पाण्डेय व्यक्ति एवं रचना, संपादक महावीर अग्रवाल (विनय पाठक आलेख); पृ 93
9. वही, पृ. 95
10. वही, पृ. 75
11. मुकुटधर पाण्डेय व्यक्ति एवं रचना, (छायावाद लेख नामवर सिंह); पृ. 177

❑❑

आगरा बाज़ार : शायर 'नज़ीर' के बरास्ते मनुष्य–केंद्रीयता की यात्रा

–निवेदिता प्रसाद

यूँ तो 19वीं सदी के प्रारंभ से ही भारतीय समाज पर सांस्कृतिक औपनिवेश का प्रभाव दिखाई पड़ने लगता है, लेकिन 1857 के बाद यह प्रक्रिया अलग तीव्रता के साथ अपने पैर पसारने लगती है। ज्यों–ज्यों यह प्रक्रिया तीव्र होती है, त्यों–त्यों इस सांस्कृतिक औपनिवश के विरुद्ध अपनी संस्कृति को नए तरीक़े से पुनर्जीवित और प्रतिस्थापित करने की प्रक्रिया भी प्रभावी तरीके से शुरू होने लगती है। भारतेंदु हरिश्चंद और रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसे रचनाकार इस सांस्कृतिक विऔपनिवेशन की कड़ी में महती भूमिका निभाते हैं, और इसी श्रृंखला में सन् 1950 के आस–पास हबीब तनवीर आते हैं, जो 1954 में 'आगराबाज़ार' के माध्यम से इसको अपने ढंग से मज़बूती प्रदान करते हैं।

दरअसल, हबीब तनबीर ने भारतेंदु के नाटक या उनके रंगचिंतन से प्रत्यक्ष तौर पर तो कोई प्रभाव ग्रहण नहीं किया, लेकिन इस बात से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि भारतेंदु के नाटकों और हबीब तनवीर के नाटकों का एक बड़ा हिस्सा लगभग एक ही जमीन पर प्रतिष्ठित है और दोनों ही नाटककार अपने रंगसृजन में लोकतत्वों से ऊर्जा ग्रहण करते हैं। हबीब तनवीर के नाटक 'आगराबाज़ार' पर बात करने और उसकी परतों को खोलने से पूर्व संक्षेप में भारतीय आधुनिकता की अवधारणा को समझना नितांत आवश्यक है, क्योंकि इसका एक पहलू इस पक्ष से भी गहरे जुड़ता है। भारतीय आधुनिकता का मूल आधार जहाँ से निर्मित होता है, वह है सामाजिक–सांस्कृतिक–राजनीतिक औपनिवेशन के विरुद्ध खड़े होना; यानि कि कला, दर्शन, विचार आदि क्षेत्रों में सांस्कृतिक औपनिवेशन के विरुद्ध जो लोग खड़े होते हैं या अपनी लेखनी और विचार के माध्यम से आवाज़ बुलंद करते हैं, वही लोग भारतीय आधुनिकता की नींव डालते हैं। गौरतलब है कि भारतीय आधुनिकता को यूरोपीय आधुनिकता के संवाद की अनुगूंज से अगर पूर्णतया अलग नहीं किया जा सकता, तो उसकी प्रतिछाया भी नहीं कहा जा सकता है। भारतीय कलाविदों, दार्शनिकों, विचारकों, रचनाकारों ने यूरोपीय आधुनिकता के वैज्ञानिक पहलू यानि कि वे पहलू जो बुद्धि तर्क, विवेक आदि

के सहारे आगे बढ़ने और निरंतर विकास करने की क़वायद करते हैं, जो मानव-केंद्रिक होने पर बल देते हैं; को अपनाया। ये तमाम बातें भारत की सामंतवादी, पितृसत्तामक समाज की संरचना, खासकर मध्यकालीन सामाजिक ढांचे को चुनौती देने में काफी हद तक सक्षम थीं। लेकिन यूरोपीय आधुनिकता के जो कुछेक दूसरे पहलू हैं, जिनके अंतर्गत भारत की छवि प्राच्यविद्या-वेद उपनिषद्, सूत्र-संहिताओं और स्मृतियों के आधार पर; कालिदास, भास, भवभूति आदि की वर्णित रचनाओं के आधार पर देखने और व्याख्यायित करने के पक्षधर थे। इन लोगों का मानना था कि भारत को देखने और समझने के लिए उन परंपराओं पर भी ग़ौर फ़रमाया जाए, उस समाज पर भी नज़र-ए-इनायत की जाए; जो औपनिवेशिक ज़माने में भी अपनी परंपराओं को आगे बढ़ाता हुआ हमारे सामने मौज़ूद था। ये भारत सिर्फ जाहिलों का भारत नहीं था, ये भारत आध्यात्मिक भारत नहीं था, ये भारत भौतिकता से परे भारत भी नहीं था- ये वो भारत था जिसके पास खुद की सांस्कृतिक विरासतों की उन्नत परंपराएँ थीं और जिनका बहुत ताक़तवर आधार भारतीय समाज में, भारतीय जनमानस में लगभग हर इलाक़े में मौजूद था। मसलन, भारतीय आधुनिकता यूरोपीय-उन्मुख आधुनिकता के बरास्ते बढ़ते हुए भी एक बिंदु पर उसे छोड़ देती है और आधार बनाती है भारतीय संरचना, जो अर्थगत, जातिगत, वर्गगत भेदों की जटिलताओं से पटा पड़ा था, उनके सापेक्ष 'मनुष्यता' को केंद्र में लाना भी भारतीय आधुनिकता का एक वैशिष्ट्य रहा है।

हबीब तनवीर ने अपने नाटक 'आगराबाज़ार' में यूँ तो 18वीं शताब्दी के पूर्वाद्र्ध में हुए गंगा-जमुनी तहजीब के एक प्रतिनिधि लेकिन अपने दौर के उपेक्षित शायर नज़ीर अकबराबादी के जीवन को सामने लाने की कोशिश की है, लेकिन उसमें भी हबीब साहब ने नज़ीर के जनकवि वाले पहलू को खास तौर से उभारा है। नज़ीर अकबराबादी (1735-1840) का समय 18वीं शताब्दी के मध्य से 19वीं शताब्दी के मध्य तक का था, जो न सिर्फ राजनैतिक दृष्टि से भारतीय व्यवस्था के पतन का युग था, बल्कि सामंतवादी पतनशीलता की रुग्ण, दमघोंटू और असामाजिक वृत्तियों का दौर भी था। सामाजिक और आर्थिक रूप से एक ओर वह जनसमूह था जो निचली श्रेणी का था यानि किसान या कामगार तबके से जुड़ा हुआ था; वही दूसरी तरफ ऐसा जनसमूह था जिसमें बादशाह, जागीरदार और दरबार से संबंध रखने वाले लोग थे। मध्यवर्ग का उदय हुआ नहीं था, इसलिए जो लोग इस श्रेणी में आ सकते थे उन पर भी सामंतवादी जीवन-वृति हावी थी। नज़ीर अपने समय और समाज को देखते हुए इस बात से भली-भाँति परिचित थे कि शक्ति और सत्ता के खेल में निचले तबके के गरीब-कामगार लोग बार-बार पिसते हैं और इस सामंतवादी व्यवस्था की शोषणकारी व दमनकारी नीति गाज बनकर उनपर ही गिरती है। वही हिंदी कविता हो या उर्दू शायरी, दोनों का संबंध इस दौर में दरबार से रहा, जहाँ साहित्य पर भी एक खास वर्ग का प्रभुत्व था। नज़ीर की कविता को दरबार के घेरे से निकाल कर पेशेवर, कामगार और गरीब लोगों के बीच ला खड़ा करते हैं। नज़ीर की कविता आम जनमानस के बोलचाल की भाषा में, उन्हीं के जीवन के इर्द-गिर्द (उनकी समस्याओं, उनके दु:ख, उनके उत्सव, उनके जीवन-जगत के विविध रंग) लिखी गईं। लब्बोलुबाब यह कि नज़ीर ने उर्दू कविता के परंपरागत ढाँचे को तोड़ कर एक नई भारतीय आधुनिकता की शैली

का सूत्रपात उसी वक़्त अपनी कविता में कर दिया था, जिसके केंद्र में 'मनुष्य', 'मनुष्यता' और 'मानव-मूल्य' थे। हबीब तनवीर ने नज़ीर के कविताई के इस मर्म को पकड़ा और अपने नाटक 'आगराबाज़ार' के माध्यम से उस भारतीय आधुनिकता के अलग-अलग शेड्स, जो उनकी कविता में उभरते हैं, को आधार बना कर नज़ीर के चरित्र और उनके समय को कैनवास पर खड़ा कर दिया है। नज़ीर की कविता की जो 'जनप्रतिबद्धता' है, उसके मस्लेहत हबीब तनवीर ने भी नाटक के केंद्र में आम आदमी को प्रतिष्ठित किया है और इस नाटक के आख़िर में नज़ीर की नज़्म 'आदमीनामा' की पंक्तियों को उद्धृत कर नज़ीर और अपनी, दोनों की जनप्रतिबद्धता और मंतव्य को स्पष्ट कर दिया है–

दुनिया में बादशाह है सो है वह भी आदमी
और मुफ़लिसो-गदा है सो है वह भी आदमी
ज़रदार, बे-नवा है सो है वह भी आदमी
टुकड़े चबा रहा है सो है वह भी आदमी[1]

हबीब तनवीर बखूबी इस बात से वाकिफ़ थे कि भारतीय संस्कृति के मूल में 'लोक' गहरे तक रचा-बसा है और बिना उस 'लोक' की समझ और बिना उसके साथ जुड़े उस सार्थक रंगमंच की तलाश पूरी नहीं हो सकेगी। फिर नज़ीर के यहाँ तो इस भारतीय संस्कृति और इसके गंगा-जमुनी तहज़ीब का पूरा अक्स ही अंकित हैं। हबीब तनवीर का मानना था- "हमें अपनी जड़ों तक गहरे जाना होगा और अपने रंगमंच की निजी शैली विकसित करनी होगी जो हमारी विशेष समस्याओं को सही तरीके से प्रतिबिंबित कर सके।"[2] ध्यान दें तो हबीब तनबीर ने अपने ज़्यादातर नाटकों के द्वारा एक नया मुहावरा गढ़ने की कोशिश की और लोक में व्याप्त उस नब्ज़ को पकड़ने की ओर भी अग्रसर हुए जिसे पाश्चात्य प्रेमियों की दुनिया ने हाशिये पर डाल दिया था। 'आगराबाज़ार', 'मिट्टी की गाड़ी', जैसे नाटकों से हबीब तनवीर जिस नए मुहावरे की खोज में आगे बढ़े; बाद में 'गाँव का नाम ससुराल, मोर नाम दामाद' और फिर 1975 में 'चरनदास चोर' जैसे नाटकों ने हबीब तनवीर के नए रंगमंचीय मुहावरे को भारतीय रंगजगत में प्रतिष्ठित कर दिया। हबीब तनवीर के नाटकों के मंचन के संदर्भ में एक दिलचस्प बात यह भी रही है कि अपने ज़्यादातर नाटकों के मंचन में उन्होंने जिन पात्रों को नाटक खेलने के लिए चुना, उनमें से अधिकांशतः प्रशिक्षित रंगकर्मी नहीं रहे। गाँव-प्रदेश के इलाक़े से उन्होंने ऐसे पात्रों को चुना, जो उनके नाटकों के उस विशेष लोकतत्व को पकड़ कर नाटक में जीवंत कर दें। आगराबाज़ार की भूमिका में एक जगह हबीब साहब ज़िक्र करते हैं कि- "आगे चलकर एक बार यह हुआ कि मुझे नाटक के लिए अजमेर के दो असली फ़क़ीर मिल गए, जिन्हें मैंने फ़क़ीर के कोरस में रख लिया। जोगाराम और लालचंद सड़कों पर मांगते और गाते नज़र आये। आवाज़ कानों को बहुत भली लगी।"[3] हबीब तनवीर ने ऐसा प्रयोग अपने अन्य नाटकों में भी किया है और सफल रहे हैं। वास्तव में "वे सामाजिक स्वीकृति या अस्वीकृति के निकष से परे अपने समय तथा लोक के मूल्यों की स्थापना के लिए निरंतर संघर्षशील रहे।"[4]

पहली बार 'आगराबाज़ार' का मंचन 1954 में हुआ लेकिन मुकम्मल तौर पर इसका प्रकाशन 2004 में हुआ। नाटक के प्रथम मंचन से प्रकाशन के बीच 50 वर्ष की अवधि का अंतर है। जैसा कि हबीब तनवीर ने इस नाटक की भूमिका में ज़िक्र भी किया है कि बीच-बीच में इसके कुछ संस्करण प्रकाशित होते रहे लेकिन वे पूरी तरह से दुरुस्त नहीं थे। ग़ौरतलब है कि नाटक अपने मंचीय स्वरूप में बार-बार परिष्कृत होता रहा और 1954 के प्रथम मंचन के बाद इसमें किरदार और कथानक के साथ संवाद भी जुड़ते हरे। मंचीय स्वरूप में यह नाटक कई बार पुनर्जीवित होता रहा। 1954 के बाद 1979, 1989 और फिर 21वीं सदी के आरंभ में लगभग 4 बार यह नाटक मंचन के लिए पुनर्जीवित हुआ। इसके लिए नज़ीर अकबाराबादी, उनकी नज़्में, जिन पर यह प्रत्यक्ष रूप से आधारित हैं, के साथ नज़ीर के समय का सामाजिक दस्तावेज़ और उनमें दफ़न ऐसे प्रश्न हैं, जो भविष्य से मुख़ातिब हैं। नज़ीर का समय भले ही 18वीं शताब्दी के मध्य का रहा हो, लेकिन इस नाटक में उनके समय, समाज और जीवन की जो चंद झलकियाँ उकेरी गई हैं, वह नज़ीर के दौर की तमाम तस्वीरों के धुंध के साफ कर देती हैं और आज के दौर के लिए भी कुछ प्रश्नों को छोड़े जाती हैं, जिस पर आगे बात की जाएगी।

नाटक के शुरुआत में ही हबीब तनबीर, नज़ीर के कलाम 'शहर आशोब' के कुछ अशआर दो फ़क़ीर के माध्यम से गाते हुए प्रस्तुत करवाते हैं, जो सीधे और साफ़ तौर पर नज़ीर के दौर के समाज और उस समाज के कामगार तबक़े की माली हालत के चित्र की झलक दे देता है–

सर्राफ़, बनिए, जौहरी और सेठ-साहूकार
देते थे सबको नक़द, सो खाते हैं अब उधार
बाज़ार में उड़े हैं पड़ी खाक बेशुमार
बैठे हैं यूँ दुकानों में अपनी दुकानदार
जैसे की चोर बैठे हों क़ैदी क़तारबंद"[5]

नाटक के शुरुआत में बाज़ार का दृश्य प्रस्तुत किया गया है जहाँ लड्डू वाला, तरबूज़ वाला, ककड़ी वाला, कनमैलिया, पान वाला, मदारी, जो ग़रीब, मेहनतकश व कामगार तबके से तआल्ल्लुक रखते हैं और प्रतीकात्मक तौर पर अपनी स्थिति का ब्यौरा स्वयं ही दे देते हैं। अपने सामान की बिक्री के लिए लोगों को लगातार आवाज़ लगाते रहते हैं, लेकिन कोई खरीददार नहीं मिलता है और इस मंदी की झुंझलाहट उनके खुद के बीच की लड़ाई में तब्दील हो जाती है। यहाँ एक बात ग़ौर करने योग्य है। नज़ीर ने 'आगरे की ककड़ी', 'तरबूज़', 'संतरा', 'नारंगी', 'जलेबियाँ', 'तिल के लड्डू' जैसे तमाम विषयों पर अपनी लेखनी की क़लम चलायी है और हबीब तनवीर ने उसी के मध्य-ए-नज़र ये ककड़ी वाले, तरबूज़ वाले, लड्डू वाले का किरदार खड़ा किया है, जो उनके प्रयोजन को साधने में कारगर साबित होते हैं। दरअसल, नज़ीर के जीवन और उनके कलाम को समझे बिना आगराबाज़ार के मर्म तक नहीं पहुँचा जा सकता। नज़ीर के कुल्लियात से अगर गुजरेंगे तो उनकी एक नज़्म से

आपका साबक़ा होगा, जिसका शीर्षक है 'रोटियाँ', जिसका ज़िक्र हबीब तनवीर ने इस नाटक में भी किया है, जहाँ वे एक जगह लिखते हैं– "जितने हैं रूप सब ये दिखाती हैं रोटियाँ।"[6] नाटक में जो लड्डू वाले, ककड़ी वाले, तरबूज़ वाले के बीच लड़ाई-झगड़े और फिर नौबत गाली-गलौज़ तक पहुँच जाने वाले दृश्य को प्रस्तुत किया गया है, उसका निहितार्थ नज़ीर के इस कलाम से स्पष्ट समझा जा सकता है। जब पेट की भूख मिटाने का प्रश्न आता है तो सारे सलीक़े, सारी नैतिकताएँ धरी की धरी रह जाती हैं। ग्राहकों को अपनी ओर लुभाने की होड़ में इन खोमचे वालों के बीच की तकरार और उसकी भाषा इस 'पेट की फ़िलासफ़ी' की तस्दीक कर देती है।

"लड्डू वाला: मरने निकले, कफ़न का टोटा! अबे, क्यों हत्या देता फिर रहा है? दो घूँसे ऐसे लगाऊँगा कि अभी तेरा लड्डू बना दूँगा।

ककड़ी वाला: अबे, मैं कहता हूँ तेरी रबड़ी न घोंट दूँ!

लड्डू वाला: ऐसा दूँगा, मुँह फिर जाएगा।

तरबूज़ वाला: अबे, एक गुड्डा मारूँगा तो गुरबाबाद कर दूँगा। मुँह गुड्डी में जा लगेगा। ज़बान कटकर गिर जाएगी, ककड़ी किस ख्याल में हो।"[7]

नाटक में खोमचे वालों के बीच हुए लड़ाई-झगड़े के दौरान जो संवाद दिखाया गया है, उसके तहत एक और मुख्य बात को रेखांकित करने की ज़रुरत है। हबीब तनवीर ने नज़ीर के दौर के आगरे के बाज़ार के रंगरूप को, उसकी बोलचाल की भाषा को, उस परिवेश को अपनी पैनी नज़र से पकड़ लिया है और इन किरदारों के संवाद, भाषा, हाव-भाव से उसे जीवंत कर दिया है। नाटक में इन पात्रों के संवाद सहज-सरल रूप से अनायास ही आये हुए प्रतीत होते हैं। कहीं भी यह महसूस नहीं होता कि प्रायोजित तरीके से, सयास इनको एक कड़ी में जोड़ा गया है और हबीब तनवीर के नाटकों के सफल होने का एक बड़ा आधार यह भी है। इस लड़ाई-झगड़े के प्रसंग के दरम्यान नाटक के एक और विशिष्ट दृश्य का उल्लेख करना आवश्यक है। अब बाज़ार में ककड़ी वाले, तरबूज वाले, लड्डू वाले, मदारी आदि के बीच हुई लड़ाई की खबर दरोगा तक पहुँचती है तो वह सीधे खोमचे वालों के साथ-साथ बाज़ार के हर दुकानदारों पर जुर्माना ठोक देता है; बिना इस बात की तस्दीक किये कि मुआमला क्या है। नाटक के आरंभ में ही 'शहर-आशोब' के माध्यम से इन कामगार तबकों की ढीली पड़ी रोज़ी-रोटी और मंदी की दुखद स्थिति का स्पष्ट चित्रण किया गया है। बावजूद इसके, दरोगा उन पर जुर्मना तय करता है। वास्तव में यह शोषण की दमनकारी स्थिति को दर्शाता है। हर युग में यही नीति चलती आ रही है कि समृद्ध और ताकतवर तबक़ा अपने कमतर तबक़े का शोषण करता है। यह जो सामाजिक श्रेणीबद्धता है, जो जाति, अर्थ आदि से जुड़ी हुई है; उसका स्वरूप शोषण से बहुत हद तक जुड़ा रहा है। सत्ता-अर्थ-ताक़त का इतिहास हर युग, हर समाज में दमनकारी और शोषणकारी रहा है। नज़ीर का समय भी इसका अपवाद नहीं था। इस नाटक के माध्यम से इन सामाजिक यथार्थों को भी सामने लाया गया है जो आज के तत्कालीन समाज के लिए भी तमाम प्रश्नों को छोड़ जाते हैं।

हबीब तनवीर ने इस नाटक में नज़ीर अकबराबादी के जिन कलामों को चुना है वो विशेष लक्ष्यार्थ हैं जो कि हबीब साहब प्रेषित करना चाहते थे, उसको द्योतित करता है। नज़ीर के एक कलाम के चंद अश'आर हैं—

आशिक़ कहो, असीर कहो, आगरे का है
मुल्ला कहो, दबीर कहो, आगरे का है
मुफ़लिस कहो, फ़क़ीर कहो, आगरे का है
शायर कहो, 'नज़ीर कहो, आगरे का है [8]

नज़ीर की इस नज़्म में 'स्थानीयता' पर विशेष बल है यानि कि वह अपनी हर पहचान से सर्वोपरि अपने 'आगरा के होने' को मानता है। दरअसल नज़ीर के दौर में दरबारी शायरों की एक परंपरा चली आ रही थी। नज़ीर से पहले 'सौदा' और मीर तक़ी 'मीर' जैसे शायर भी इस दरबारी काव्य परंपरा से अछूते नहीं रहे। नज़ीर के दौर में तो खैर मीर एक बड़े शायर के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। लेकिन नज़ीर ने यह सब देखने-जानने के बाद भी किसी दरबार में जाना स्वीकार नहीं किया और ताउम्र आगरा में ही रह कर एक मामूली मुदर्रिस की अदद सी नौकरी करते रहे, जिससे मिले चंद पैसों से ही उनका गुज़ारा होता था। कहा जाता है कि- "लखनऊ के नवाब सआदत अली खां कवि और कलाकारों का बहुत सम्मान करते थे। उन्हें नज़ीर की ग़रीबी का पता चला तो उन्हें अपने यहाँ बुलाने के लिए आदमी भेजे। परंतु उन्होंने कहा- बादशाह से मेरा सलाम कहना, मेरी तरफ से माफ़ी माँगना और अर्ज़ करना कि नज़ीर फ़क़ीर तो अपनी झोपड़ी में ही खुश है। शाही महलों में रहना उसकी तक़दीर में नहीं।"[9] गौरतलब है कि नज़ीर ने पूरी उम्र आगरा, वहाँ के लोग, वहाँ के जीवन-जगत को समझने में लगा दी। प्रो. राजकुमार अपनी पुस्तक 'हिंदी की साहित्यिक संस्कृति और भारतीय आधुनिकता' नामक पुस्तक में किन्हीं संदर्भों के तहत एक बात को रेखांकित करते हैं, जिसका उल्लेख करना यहाँ जरूरी लगता है- "स्थानीयता को महत्व देने के लिए समकालीनता को महत्व देना जरूरी था। समकालीनता से आशय समकालीन जीवन और उनकी समस्याओं से है।"[10] नज़ीर के यहाँ जो स्थानीयता है वो अपने युग के समकालीन संदर्भों से जुड़कर ही सामने आती है। उनके कलाम में समकालीन जीवन, उनकी उत्सवधर्मिता, उनके दु:ख उनकी समस्याएँ- सब कुछ तो उभर कर आता है और हबीब तनवीर ने इस नाटक में उस सार को न केवल पकड़ा है बल्कि उतार भी दिया है। हबीब तनवीर ने इस नाटक के आख़िर में ककड़ी वाले, तरबूज़ वाले, लड्डू वाले से अपनी सामान की बिक्री हेतु जो नज़्म गवाए हैं, जो कि नज़ीर का कलाम है, वो यह बखूबी दर्शाता है कि नज़ीर की प्रतिबद्धता किसके प्रति थी। रोज़गार की दयनीय स्थिति, बेनज़ीर वैश्या की आपबीती (जो कि नज़ीर के एक कलाम के माध्यम से ही सामने आया है) आदि प्रसंग जिसको हबीब साहब नज़ीर के कलाम के माध्यम से सामने लाए हैं वह सब उस दौर के चित्र को समझने में मददगार साबित होती है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने एक निबंध में कहा था कि- "यदि किसी को अपने देश से प्रेम है तो उसे अपने देश के मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, गुल्म, पेड़, पौधे, कण, पर्वत, नदी, निर्झर सबसे

प्रेम होगा; सबको वह चाह भरी दृष्टि से देखेगा।"[11] वास्तव में आप जहाँ से हैं, जिस जगह से जुड़े हैं; अगर उस जगह को प्रेम नहीं कर सकते तो आप अपने देश को कत्तई प्रेम नहीं कर सकते। बकौल आशीष त्रिपाठी– "हम सीधे हिंदुस्तान के नहीं हो सकते, सीधे–सीधे दुनिया के नहीं हो सकते। सबसे पहले हमको उस जगह, उस जमीन का होना पड़ता है, जिस जगह, जिस ज़मीन में हम रहते हैं। अपनी बोली, बाणी, मिट्टी, पहाड़, पर्वत से जब तक हम प्यार नहीं करते, जब तक वह हमारे परिचय में शामिल नहीं होती; तब तक सारी धरती को प्यार नहीं किया जा सकता।"[12] नज़ीर का जीवन और उनका रचना–कर्म इसी बात की पुष्टि करता है और हबीब तनबीर ने अपने नाटक में उनके इन तमाम पक्षों को खोलने की कोशिश सूत्र रूप में की है। अपनी बुद्धि और विवेक का परिचय देते हुए हबीब साहब ने उन कलामों को बख़ूबी चुना है जो नज़ीर के जीवन के अक्स के साथ–साथ उनके समाज–जगत का दृश्य भी पाठकों के समक्ष लाती हैं। अस्ल में, यह भी महत्वपूर्ण होता है कि हमें क्या कहना है और क्या अनकहा रखना है। कितना व्यक्त करना है और कितना अव्यक्त रखना है। क्या चुनना है और क्या छोड़ना है। अगर नज़ीर के कुल्लियात से गुजरने के बाद हबीब तनवीर के इस नाटक की यात्रा की जाए तो सहज ही यह समझा जा सकता है कि किस विवेकसम्मत दृष्टि से उन्होंने नज़ीर के चुनिंदा कलामों को अपने इस नाटक के लिए चुना है।

'आगराबाज़ार' नाटक में हबीब तनवीर ने कई जगह व्यंग्य के माध्यम से सामाजिक यथार्थ को पकड़ने की कोशिश की है। जैसा कि विदित है, नज़ीर अकबराबादी का संपूर्ण जीवन आर्थिक खस्ताहाली में गुज़रा। मीर तक़ी मीर भी जब तलक नवाब आसिफुद्दौला और नवाब सआ'दत अली खां के दरबार में नहीं गए तब तलक उनका भी जीवन संघर्षों की गाथा ही बना रहा। मसलन, अगर दरबार की कृपा नहीं बरसी या दरबार की शरण में नहीं गए तब शायरी करने से आपके ख़स्ताहाल जीवन में कुछ विशेष फ़र्क़ नहीं पड़ने वाला था। नज़ीर के साथ भी यही रहा। ताउम्र पैसों की तंगी रही। इन नाटक में हबीब तनवीर ने लड्डू वाले और तरबूज़ वाले के बीच जो संवाद दिखाया है वह इस सामाजिक विडंबना की पोल खोल कर रख देता है। सिर्फ़ उस दौर के समाज का ही क्यूँ, कवियों–लेखकों–साहित्यकारों के संघर्षमय व खस्ताहाल जीवन का इतिहास हर युग और हर समय में बनता रहा है। जब इस नाटक में तरबूज़ वाला कहता है– "क्यों न लड्डू–तरबूज़ बेचना छोड़के हम भी नज़्म कहना, शेर लिखना शुरु कर दें। भूखा मरना ठहरा तो यों ही सही। क्यों, भैया!"[13] यह व्यंगात्मक संवाद बड़ी तीक्ष्णता के साथ हमारे समाज के स्याह पहलू को बेनक़ाब कर देता है, जो उस दौर के साथ इस दौर के लिए भी तमाम प्रश्नों को छोड़ती हुई आगे बढ़ती है।

अब नुक्ता–ए–नज़र इस नाटक के एक प्रमुख बिंदु पर, जिसे हबीब तनवीर ने बड़ी गंभीरता के साथ पाठक के समक्ष ला खड़ा किया है। ग़ौरतलब है कि हर युग और काल विशेष में चली आ रही परंपरा के बरक्स नई चीज़ स्थापित करना अपने आप में चुनौतीपूर्ण और मुश्किल काम होता है। वर्षों से चली आ रही बनी–बनाई परिपाटी यूँ ही पलभर में धवस्त नहीं हो जाती। परिवर्तन की बयार के मध्य एक बड़ा खेमा उसके विपक्ष के रूप में हमेशा डटा खड़ा होता है। नज़ीर के साथ भी यही हुआ। नज़ीर की कविता अपनी विषय–वस्तु और भाषा के स्तर पर, अपने युग के मुहावरे

को बदल रही थी। उनके काव्य-विषय में हरेक के लिए जगह थी। क्या हिंदू, क्या मुसलमान; क्या ईश्वर, क्या अल्लाह। इन सबसे बड़ी बात कि उनके काव्य-विषय उस रीतिकालीन सामंती प्रभाव से बेहद दूर थे। नज़ीर के लिए कविता कभी दरबार के घेरे में बंधी ही नहीं, जैसा कि उनके युग में था। दूसरी, कि वो काव्यशास्त्रीय पांडित्य और अरबी-फ़ारसी युक्त तथाकथित पढ़े-लिखे लोगों की अदबी भाषा, जिसमें कि उस समय उर्दू के काव्य रचे जा रहे थे, से भी मुक्त थी। उनकी कविता की जनप्रतिबद्धता उस आमफ़हम जनमानस, उस कामगार तबके, उस ग़रीब-गुरबे के लिए सुपुर्द थी, जिनके बीचे वो ताउम्र रहे। नज़ीर की कविता उस लोक-समाज के अंतर्मन की अभिव्यक्ति के रूप में उभर कर आती है, वो भी उनकी ही भाषा में। नज़ीर उस तबक़े के लोगों का मन पढ़ते हैं, जिसको उपेक्षित किया जाता रहा है। नज़ीर उन कंठों का स्वर बनते हैं, जो लच्छेदार भाषा और गूढ़ फिलासफी को नहीं समझते हैं। अगर उनको समझ में आती है तो वो है 'रोटी', 'भूख की फिलासफी।' यही वजह है कि नज़ीर की कविता आवाम में लोकप्रिय रही और आज भी गाई जाती है। इस नाटक में किताब वाला, शायर और तज़किरानवीस के बीच जो बातचीत होती है वह नज़ीर के अपने दौर में हुई उपेक्षा का ब्यौरा स्वयं ही दे देती है-

'किताब वाला : और अपना यह ईमान है कि शेर छापें तो शायर के। हरकसो-नाकस के अश' आर छापना हमारा पेशा नहीं।

तज़किरानवीस : लेकिन शायरी-आँ चीज़ें दीगर अस्त। फोहशकलामी, हर्जागोई, इब्तज़ाल और आमियाना मज़ाक की तुकबंदी को हमने शेर नहीं माना। मियाँ 'नज़ीर' को शायर मानना उन पर बहुत बड़ा बूता होगा। शोअरा के तज़किरे में उनकी कोई जगह नहीं।"[14]

दरअसल, ये संवाद सिर्फ़ नज़ीर की हुई उपेक्षा की कहानी ही बयाँ नहीं करते बल्कि एक बड़ी बहस को भी खड़ा करते हैं। नज़ीर को उनके युग में यह कहकर खारिज़ किया जाता रहा है कि उनकी कविता काव्य-सौंदर्य के प्रतिमान पर ख़री नहीं उतरती, विषय-वस्तु, भाषा आदि के स्तर पर कमजोर कविता है, बाज़ारू कविता है। लेकिन सवाल ये है कि काव्य-सौंदर्य के प्रतिमान को तय कौन करेगा? इस पर अलग से विचारना दिलचस्प रहेगा कि वे कौन से लोग थे, जिन्होंने नज़ीर की कविता को एक लंबे समय तक तथाकथित उर्दू अदब की मुख्यधारा से बेदखल किए रखा। सच पूछिए तो नज़ीर की कविता उसी 'हिंदुस्तानी' ज़बान का प्रतिनिधित्व करती है, जिसका गांधी ज़िक्र करते हैं। नज़ीर ने जनता के बीच, जनता के लिए, जनता की भाषा में कविता रची। क्या यह अपने आप में सराहनीय और महत्वपूर्ण नहीं है कि पहली बार उस उत्तररीतियुगीन सामंतवादी परिदृश्य में कोई ग़रीब-कामगार आम जनमानस के पक्ष में खड़ा होता है और उस दरबारी कविता का प्रतिपक्ष रचता है। उनके लिए, उनकी भाषा और भाव में लिखता है और अपना एक अलग वितान खड़ा करता है। नज़ीर अपने समय में उपेक्षित रहे, लेकिन लोक में उनकी कविताओं की सशक्त मौजूदगी ने उन्हें 'नज़ीर' बनाये रखा, उन्हें जिलाए रखा।

नज़ीर के कलाम की एक बड़ी विशेषता है उनकी शायरी में, उनके जीवन में गंगा-जमुनी तहज़ीब का अद्‌भुत रचाव। हबीब तनवीर इस नाटक के माध्यम से उस पक्ष को भी बख़ूबी सामने

लाये हैं। नाटक के एक दृश्य में कैसे देहातियों का एक टोला रंगीन कपड़े पहने, 'बलदेवजी का मेला' नज़्म को गाता हुआ आता है, वहीं दूसरी ओर सिखों की एक टोली 'मदह गुरु नानक' कविता गाती हुई आगे बढती है; लेकिन दोनों सौहार्द के साथ नानक के चित्र के आगे अपना सर झुका देते हैं और फिर मिल कर शांतिपूर्वक अपने-अपने गीत गाते हुए आगे बढ़ते हैं। ये सांप्रदायिक सौहार्द नज़ीर के रचना-कर्म का एक अहम् हिस्सा है। आज के इस मुश्किल दौर में, जहाँ फ़िरक़ापरस्ती ने भयावह रूप में अपने पैर पसार लिए हैं, जहाँ धार्मिक-उन्मादता भी चरम पर है, जहाँ भारतीय होने से पहले हम हिंदू-मुसलमान हो गए हैं- ऐसे दौर में नज़ीर का कमाल उस सांप्रदायिक सौहार्दता और परंपरा एकजुटता की 'नज़ीर', ही पेश करता है। इन सब से इतर नज़ीर के कलाम में जीवन-जगत के विविध रूप भी उभर कर सामने आते हैं। हबीब तनवीर ने इस नाटक में नज़ीर द्वारा लिखे गए 'आगरे की ककड़ी', 'तिल के लड्डू', 'आगरे की तैराकी के मेले पर नज़्म', 'होली' पर नज़्म, रामू के बेटे के जन्म के शुभ अवसर पर बधाई प्रेषित करने के लिए 'कृष्ण कन्हैया का बालपन' आदि नज्मों को जो उद्धृत कर उनके जीवन-जगत को देखने-सुनने-समझने की कोशिश की है, उसमें वो पूर्णतः सफल रहे हैं। नाटक में एक जगह पतंगवाला कहता है- "मियाँ 'नज़ीर' की निगाह में आदमी-आदमी में कोई फ़र्क़ नहीं। वह पतंग बनाने वाला हो, चाहे किताब बेचने वाला उनके लिए तो बस आदमी है।"[15] नज़ीर की शायरी में 'मनुष्यता की महत्ता' और पारलौकिकता के बरक्स लौकिकता की जो स्थापना है, उसको इस नाटक में हबीब तनवीर ने उतार लिया है।

निष्कर्षतः, यह कहा जा सकता है कि हबीब तनवीर ने अपने नाटकों के माध्यम से, जिसमें आगराबाज़ार एक अहम् पड़ाव की तरह आता है, से न सिर्फ भारतीय रंगमंच की एक देशज व निजी शैली विकसित की है; बल्कि विषय वस्तु के स्तर पर भी एक ऐसे शायर का जीवन उसका समाज और उसके कलाम को चुना, जिसकी प्रतिबद्धता 'जन' के प्रति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है और वह 'जन', अभिजात्य तबक़े की चेतना से अलग लोक में रचा-बसा है।

संदर्भः

1. हबीब तनवीर, 'आगराबाज़ार', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2010, पृ. 108
2. भारतरत्न भार्गव, 'रंग हबीबः हबीब तनवीर की रंग यात्रा', राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2006, पृ. 166
3. हबीब तनवीर, 'आगराबाज़ार', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2010, पृ. 20
4. भारतरत्न भार्गव, 'रंग हबीबः हबीब तनवीर की रंग यात्रा', राष्ट्रीय नाट्स विद्यालय, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2006, पृ. 62
5. हबीब तनवीर, 'आगराबाज़ार', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2010, पृ. 47
6. वही, पृ. 53
7. वही, पृ. 54
8. वही, पृ. 48

9. सं- डॉ. नज़ीर मुहम्मद, 'नज़ीर ग्रंथावली, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान', लखनऊ, प्रथम संस्करण-1992, पृ. 141

10. डॉ. राजकुमार, 'हिंदी की साहित्यिक संस्कृति और भारतीय आधुनिकता', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2015, पृ. 35

11. सं- नामवर सिंह और आशीष त्रिपाठी, 'रामचंद्र शुक्ल रचनावली', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 2016, पृ. 105

12. सं- प्रभाकर सिंह, 'रीतिकाव्य; मूल्यांकन के नए आयाम', लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण-2016, पृ. 306

13. हबीब तनवीर, 'आगराबाज़ार', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वीतीय संस्करण, 2010, पृ. 59

14. वही, 60

15. वही, 109

❑❑

राही मासूम रजा के उपन्यासों की भाषा–शैली

–मोनिका कुमारी

डॉ. राही मासूम रज़ा हिंदी साहित्य जगत के जाने–माने और प्रतिभाशाली साहित्यकार हैं। राही मासूम रज़ा के यथार्थ जीवनानुभव, प्रगतिशील विचारधारा एवं संवेदनशील मन की अमूल्य कलाकृतियों से हिंदी साहित्य समृद्ध हुआ है। जीवन के अनेक विध रूपों को उन्होंने जिन परिस्थितियों में देखा, जाना, सोचा, समझा और भोगा है उसी के अनुरूप उनके व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है और हर एक लेखक का व्यक्तित्व उनके पारिवारिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक परिवेश से निर्मित होता है। इसलिए तो उनकी कलाकृतियों में लेखकीय जीवनानुभव एवं साहित्य का समन्वय दिखाई देता है। अतः समसामयिक परिवेश ने उनके व्यक्तित्व को बहुत ही प्रभावित किया है। उनका संपूर्ण उपन्यास साहित्य कोरी कल्पना मात्र नहीं है वरन अधिकांश उपन्यासों में लेखक स्वयं उपस्थित है। अपने उपन्यासों में उन्होंने अपने जीवनानुभव को ही यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है।

डॉ. राही मासूम रज़ा का व्यक्तित्व अत्यंत प्रभावशाली है। भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता उसकी सामासिकता है जिसमें अनेक धर्म, जातियाँ, सदियों से मिल–जुल कर एक साथ रहती आई हैं। एकता, और भाईचारे की भावना हमारे देश की संस्कृति का विशेष गुण है। राही मासूम रज़ा का संपूर्ण साहित्य देश की इसी साझी संस्कृति, एकता, राष्ट्रीयता और भाईचारे की भावना का प्रमाण प्रस्तुत करता है। राही मासूम रज़ा के व्यक्तित्व के संबंध में हिंदी के विद्वान शिवकुमार मिश्र लिखते हैं कि– “अपनी अब तक जिंदगी में जिन तमाम अच्छे लोगों से मिला हूँ, राही उनमें से एक थे, अनेक अर्थों में विरल। बड़े जानदार, बड़े हँसमुख, बड़े दिलचस्प, बड़े ईमानदार, जिम्मेदार, साथ ही निहायत बेचैन और परेशान कभी–कभी बेहद उदास और बेहद चिंतनशील। बावजूद इसके बुनियादी तौर पर आशावादी, जीने का हौसला रखने वाले, आदमी की भविष्य की चिंता में डूबे, परंतु आश्वस्त अपनी जमीन और जमीर के प्रति, अपनी निष्ठा में अडिग अपने देश से इंतिहा दर्जे का प्यार करने वाले। राही की बेचैनी वस्तुतः उनके अपने जमीर से उपजी, बेचैनी है। उस जमीर से अपनी बेचैनी जिसे उन्होंने ताउम्र संभाले रखा अपने जमीर के लिए उन्होंने किसी भी तरह का समझौता नहीं किया।”[1]

राही मासूम रज़ा का संपूर्ण साहित्य (उपन्यास, निबंध और काव्य) समाज को सुख शांति व अमन-चैन का संदेश देता है और सांप्रदायिकता का विरोध करने के लिए प्रेरित करता है। विभाजन के पश्चात् हिंदू-मुसलमानों का देश में एक साथ रहना दूभर हो गया था। मुसलमानों को संदेह की दृष्टि से देखा जाने लगा था। सांप्रदायिक मानसिकता दोनों धर्मों के लोगों में व्याप्त थी। इस तरह हिंदू-मुसलमानों के आपसी रिश्तों के बीच उत्पन्न खाई को पाटने की कोशिश करता है और हिंदू-मुस्लिम दंगे, धार्मिक आडंबर और उस समय की फैली हुई अनेक समस्याओं को चित्रित करता है। राही के उपन्यासों के पात्र जीवन से संबंधित इन्हीं प्रश्नों से जूझते हुए दिखाई देते हैं। भावों तथा विचारों की अभिव्यक्ति के लिए भाषा की आवश्यकता होती है। भाषा के बिना किसी भी साहित्य की रचना संभव नहीं है। भाषा ही वह माध्यम है जिसके द्वारा लेखक और पाठक के बीच आत्मीय संबंध स्थापित होते हैं। लेखक अपनी कृति के अंतर्गत जो कुछ भी कहना चाहते हैं वह भाषा के द्वारा ही कहते हैं।

राही मासूम की मातृभाषा उर्दू-भोजपुरी थी उनके उपन्यासों की भाषा एक ओर सांस्कृतिक रुचि और मानवतावादी जीवन दृष्टि का संवहन करती है। दूसरी ओर देशकाल और पात्र के अनुरूप स्थानीय रंगों, गंभीरता, व्यंग्यात्मकता एवं सहजता से युक्त दिखाई देती है। राही के उपन्यासों का समस्त सौंदर्य उनकी भाषा के कारण है। भोजपुरी और उर्दू का जैसा मिश्रित प्रयोग राही ने किया है वह अपने-आप में अनूठा और अनुपम है। भाषा चयन और भाषा-प्रयोग के मामले में उनका यह अद्भुत कारनामा है। 'आधा गाँव' के मुस्लिम परिवार की भाषा का एक उदाहरण इस प्रकार है—

"फुफ्फू आदाब।"

"जीती रहो। ए धीया, तू त महहर वालन के एकदम्में भूल गयीउ।"[2]

राही मासूम रज़ा की भाषा बड़ी जीवंत और प्रभावपूर्ण है। 'आधा गाँव' हिंदी का पहला ऐसा उपन्यास जिसमें भारत-विभाजन के समय की शिया मुसलमानों की मन:स्थितियों का बेलाग और सटीक शब्दांकन मिलता है। ये मन:स्थितियाँ उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिले के गंगौली गाँव को केंद्र में रखकर लिखी गई हैं। 1947 के परिप्रेक्ष्य में लिखे गये इस उपन्यास में सांप्रदायिकता के विरुद्ध गहरा प्रहार है। यह प्रहार सृजनात्मक लेखन का सबूत बनकर राष्ट्रीयता के हक में खड़ा हो जाता है। गंगौली मुस्लिम-बहुल गाँव है और यह हिंदी उपन्यास है। इस गाँव के मुसलमानों का बेपर्द जीवन यथार्थ पूरी तरह सच, बेबाक और धारदार है। इस उपन्यास के सभी पात्र बिना लगाम के हैं और उनकी अभिव्यक्ति सहज, सटीक और दो टूक है, गालियों की हद तक वाले संवाद इस उपन्यास की विशेषता हैं जो 'आधा गाँव' को हिंदी उपन्यासों में विशिष्ट दर्जा दिलाते हैं।

साहित्य रचना के क्षेत्र में भाषा का सर्वाधिक महत्व है। भाषा का वातावरण के अनुकूल होना अनिवार्य है। उपन्यास में तो भाषा का सर्वाधिक महत्व है। भाषा सरल और स्वाभाविक होने से कथानक का महत्व बढ़ जाता है। राही जी के उपन्यास में परिस्थिति के अनुकूल भाषा का प्रयोग किया गया है। कोई उपन्यासकार जनभाषा का प्रयोग करता है, कोई लोकोक्तियों और मुहावरों से

भाषा को जानदार बनाता है। उपन्यासों में जिस भाषा का प्रयोग किया है वह परिवेश के अनुरूप ही है। भाषा के माध्यम से ही रचनाकार प्रभावशाली ढंग से अपनी रचना का प्रणयन करते हैं। डॉ. राही मासूम रज़ा के साहित्य में भी काव्यात्मकता का प्रयोग हुआ है। साहित्यकार जहाँ यह सोचते हैं कि उसे अपने विचार संक्षेप में भावुकता के साथ प्रस्तुत करना है, तब वह अपने भाव एवं विचार को अभिव्यक्त करने में काव्यात्माकता को माध्यम बनाते हैं। 'आधा गाँव' उपन्यास की कथा विस्तार के साथ-साथ उलझन भरी है। एक कथा से दूसरी कथा का सूत्रपात्र होता है। कभी कोई कथा संपूर्ण कथा रूप से पूर्ण नहीं होती है। यह उसकी भाषा का ही कमाल है कि उपन्यास अ धिक रोचक है। कहीं-कहीं गंभीर स्वर भी दिखाई देते हैं। 'आधा गाँव' के माध्यम से गाँव की अनपढ़ जनता प्रगतिवादी शक्तियों को अनदेखा करती है। लोग एक-दूसरे को नैतिकता के आधार पर तौलते हैं। 'अब्बूमियाँ' की शिकायत 'अली हुसैन' इसलिए करते है कि 'अब्बू' की लड़की 'सईदा' अलीगढ़ यूनिवर्सिटी में पढ़ती है। क्लब में जाती है और अंग्रेजी बोलती है। लेकिन उनकी लड़की बरकतवा जुलाहे से प्रेम करती है। भारतीय ग्रामीण समाज के अनपढ़ लोग अभी भी ऐसे तत्वों को अच्छी नज़र से नहीं देखते। 'गंगौली' के सैय्यदों को यह बिल्कुल स्वीकार नहीं कि उनकी लड़की किसी नीची जाति के मुसलमान से प्रेम करे। राही मासूम रज़ा ऐसे वर्णन सरल भाषा के माध्यम से करते हैं। 'आधा गाँव' उपन्यास में उन्होंने 'गंगौली' गाँव की भाषा भोजपुरी का प्रयोग किया है। गंगौली गाँव को उसकी समग्रता में प्रस्तुत करने के लिए वहाँ की बोली का प्रयोग अनिवार्य भी है। गाँव को विभाजन की विभीषिका को झेलने वाले भारत के गाँवों के प्रतीक के रूप में चित्रित किया है। इसके सभी पात्र भारतीय ग्रामांचल के निवासियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। फुन्ननमियाँ, हक्कीम साहब जैसे लोग भारत के विभिन्न गाँवों में देख सकते हैं। लोकोक्तियों का प्रयोग भी रज़ा की रचनाकाल की खासियत है- न रहिए बाँस और न बजिए बाँसुरी। बंदर क्या जाने अदरक का स्वाद।[3] भाषा पर क्षेत्रीयता का प्रभाव होता है।

राही की भाषा में सृजनात्मकता और सजीवता है। वे मानवीकरण और अन्य लाक्षणिक प्रयोगों का भी सहारा लेते हैं। एक अन्य स्थान पर मानवीकरण का सुंदर प्रयोग है। 'कटरा बी आर्जू' में भी कुछ ऐसे लाक्षणिक और अलंकारिक प्रयोग हुए हैं जो पाठक को बाँध लेते हैं। "हर डिब्बे में उस परिवार की भूख आई थी।"[4] एक अन्य उदाहरण -" माँ की आँखों में ममता की जगह मोतिया।"[5] ऐसे लाक्षणिक प्रयोंगों से राही की गद्य शैली सुंदर बन गई है। भाषा भावाभिव्यक्ति का माध्यम होती है। भाषा के माध्यम से ही विषय को एक निश्चित शिल्प के द्वारा उपन्यास में प्रस्तुत किया गया। उपन्यास के कथा में प्रवाह, रोचकता, क्रमबद्धता के लिए अच्छी भाषा तथा उत्तम शैली का होना आवश्यक होता है। उपन्यास के अंतर्गत पात्रोचित भाषा का होना, मुहावरे, लोकोक्तियाँ का सटीक प्रयोग होना, तत्सम, तदभव, देशज, विदेशी शब्दों का यथास्थान प्रयोग होना आवश्यक माना जाता है। शैली लेखक की अपनी निजता से संपन्न होती है, शैली लेखक का दर्पण होता है। जो राही जी में है। राही के मुस्लिम पात्रों की भाषा में उर्दू-फारसी, सामंती भोजपुरी उर्दू का प्रयोग उपन्यास 'कटरा बी आर्जू' में किया है।

'टोपी शुक्ला' उपन्यास में कथा सृष्टि के अनेक संभागों में गंभीर चिंतन से ओत-प्रोत भाषा स्वरूप दिखाई पड़ता है। भोजपुरी क्षेत्र के मुसलमानों के घरों में उर्दू रोजमर्रा की भाषा नहीं है। इसी तथ्य के आधार पर राही ने जान बूझकर भाषा की मिठास को सार्वजनिक किया है। उपन्यास में भोजपुरी में उर्दू का मिश्रण कर दिया गया है। भाषा के कई स्तर होने के कारण संवादात्मक शैली का प्रयोग प्रभावशाली ढंग से करते हैं। टोपी के माध्यम से एक उदाहरण दृष्टव्य है—

"अम्मी जरा बैगन का भुर्ता। अम्मी।
'ये लफ्ज़ तुमने कहाँ सीखा?'
'लफ्ज़? लफ्ज़ का होता है माँ?'
'ये अम्मी कहना तुमको किसने सिखाया है?'
'इसे हम इफ्फ़न से सीखा है।'
तैं कउनो मियाँ के उड़का से दोस्ती कर लिहये बाय का रे?'[6]

राही का भाषा पर पूर्ण अधिकार है। राही ने जिन स्थलों पर राजनीति और समाज की समस्याओं एवं विषयों की सिद्धांतवादी व्याख्या की है, उन स्थलों पर उनका स्वर गंभीर, विचारशील तथा भाषा शिक्षित एवं बौद्धिक हो गई है। 'टोपी शुक्ला' उपन्यास की भाषा में व्यंग्य का सौंदर्य देखा जा सकता है। "बलभद्र नारायण शुक्ला एक पालने में स्याह गोश्त के एक लोथड़े की तरह पड़ा ट्याँव-ट्याँव कर रहा है।"[7] हिम्मत जौनपुरी, ओस की बूँद और दिल एक सादा कागज़ में भी अलंकारिक और लाक्षणिक प्रयोग हुए है- "बिल्लो की जबान उसकी ज़वानी से भी ज़्यादा तेज थी।"[8] राही मासूम रज़ा अपने उपन्यासों में उपमा और मानवीकरण के अतिरिक्त मुहावरे और लोकोक्तियों का प्रयोग करके भाषा को सुंदर बना देते हैं। भाषा सरल तथा स्वाभाविक बोलचाल की है। उनके उपन्यासों में उर्दू अरबी-फारसी के शब्द तो मिलते ही हैं लेकिन अंग्रेजी शब्दों की भी बहुलता है। सहजता और पात्रानुकूलता उनकी भाषा का मुख्य गुण है। प्रतीकों, बिंबों, लोकोक्तियों तथा कहावतों के माध्यम से राही ने उसे विशेष सौंदर्य प्रदान किया है। भोजपुरी-मिश्रित उर्दू का प्रयोग करने वाले संभवतः राही पहले उपन्यासकार हैं। इसलिए इस रूप में भी उनका महत्व अक्षुण्ण है। इस प्रकार राही मासूम रज़ा के उपन्यासों की भाषा का अपना विशिष्ट रूप और सौंदर्य है।

राही के उपन्यास साहित्य की यह विशेषता रही है कि उन्होंने किसी एक विशेष शैली को लेकर संपूर्ण उपन्यास नहीं रचा है। आवश्यकतानुसार उनके उपन्यासों में विविध शैलियों की उत्पत्ति हुई है। प्रमुख रूप से उनके उपन्यासों में वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक और आत्मकथानक शैली का प्रयोग हुआ है। 'हिम्मत जौनपुरी' उपन्यास के आरंभ में ही गाजीपुर के जीवन का वर्णन सुंदर शैली में किया है। राही ने बम्बई महानगरी की महिमा का वर्णन इस उपन्यास में सुंदर शैली में किया है- "वह बड़ा बेदई और बेमुरब्बत शहर है। शायद यह शहर जीत जाए और आज तक जो राही मासूम रज़ा है वह कल केवल एक चमचा दिखाई दे।"[9] जिसमें कहावतें, मुहावरे तथा गालियाँ जीवन के यथार्थ को उकेरने की प्रक्रिया में सहायक हैं।

'ओस की बूँद' उपन्यास सांप्रदायिकता की समस्या पर लिखा गया उपन्यास है। इस उपन्यास के चरित्रों में झल्लाहट और गुस्से के कारण भाषा भी उसी के अनुरूप हो गई है। झल्लाये हुए पात्र गाली-गलौज पर उतर आते हैं। राही जी दरवाजे को प्रतीकात्मक मानते हुए लिखते हैं- "यह दरवाजे भी क्या चीज होते हैं। रास्ते देने वाले भी यही और रास्ता रोकने वाले भी यही।"[10] इसी प्रकार के अंतद्र्वंद का चित्रण भी प्रतीकात्मक रूप में व्यक्त हुआ है। कथा सृष्टि की भाषा का महत्व इसलिए ज्यादा बढ़ जाता है कि घटनाएँ व संघटनाएँ वे स्वयं कहते हैं। गंभीर चिंतन से युक्त भाषारूप देखिए। "हाजरा का कलेजा धक से हो गया। वह पढ़ी लिखी नहीं थी परंतु 'माई मेरे नैनन बान परी' का अर्थ जानती थी।..... वास्तव संबंध नहीं होता है, लिपि तो भाषा का वस्त्र है। उसका बदन नहीं है- आत्मा की बात तो दूर रही। मातृभाषा की तरह कोई मातृलिपि नहीं होती, क्योंकि लिपि सीखनी पड़ती है और मातृभाषा सीखनी नहीं पड़ती। वह तो हमारी आत्मा में होती है और हवा की तरह हमारी आत्मा में जाती रहती है। साँस लेने की तरह हम मातृभाषा भी सीखते नहीं। बच्चे को जैसे दूध पीना आता है उसी तरह मातृभाषा भी आती है।"[11]

राही मासूम रज़ा ने भाषा की शक्ति का उद्घाटन बड़ी कुशलता एवं दृढ़ता के साथ किया है। उन्होंने भाषा की शक्ति को पहचाना है और जिस भाषा का प्रयोग अपने उपन्यासों में किया, वह उन्हें समाज से प्राप्त हुई है। "मेरे पात्र यदि गीता बोलेंगे तो मैं गीता के श्लोक लिखूँगा। और वह गालियाँ बकेंगे तो अवश्य उनकी गलियाँ भी लिखूँगा। मैं कोई नाजी साहित्यकार नहीं हूँ कि अपने उपन्यास के शहरों पर अपना हुक्म चलाऊँ और हर पात्र को एक शब्दकोष थमा कर हुक्म दें दूँ कि जो एक शब्द भी अपनी तरफ से बोले तो गोली मार दूँगा। कोई बड़ा-बूढ़ा यह बताए कि जहाँ मेरे पात्र गालियाँ बकते हैं- वहाँ मैं गालियाँ गढ़ने लगूँगा और मुझे गालियों के सिलसिले में अपने पात्रों के सिवा किसी पर भरोसा नहीं।"[12] राही मासूम रज़ा उपन्यासकार और कवि दोनों थे। यही कारण है कि उनकी सरस काव्यशैली का प्रयोग अधिक प्रभावशली, मार्मिक और स्वाभाविक बन गया है। 'ओस की बूँद' में 'शहला' जब गीत गुनगुनाती है तो उसके घर वालों को महसूस होता है कि वह बिल्कुल सोलह साल की हो गई है। लेखक ने पात्रों के मानसिक अंतरद्वंद्व से युक्त शैली का प्रयोग राही मासूम रज़ा के उपन्यासों में विद्यमान है।

राही मासूम रज़ा की भाषा में राजनीतिक भ्रष्टता, संवेदनात्मकता और जीवन के माँसल पक्ष की व्यंजना बड़ी ही तटस्थता से हुई है। 'दिल एक सादा कागज़' उपन्यास के मुस्लिम पात्रों की भाषा में उर्दू-फारसी, सामंती भोजपुरी उर्दू तथा खड़ी बोली बोलने लगता है। कुछ पात्र पूर्वी बोली बोलते हैं। परंतु इसमें सभी प्रकार के शब्दों का सामंजस्य मिलता है। उपन्यास में पात्रों की बातचीत में ऐसे शब्द आते हैं जो सभ्य और सुसंस्कृत समाज में मान्य नहीं है। कलात्मक रचनाओं में उन शब्दों का निषेद किया जाता है। लेकिन राही जैसे यथार्थवादी कलाकार को एक पात्र के स्वाभाविक व्यवहार

का सत्यांकन करना हो, तो वे क्या कर सकते हैं। इसलिए 'दिल एक सादा कागज़' में भी गालियों का प्रयोग भी हुआ है, "हम तो ऊ चूतियानंद मोलीसाब की बात कर रहे हैं। बोल जाईए डपट के।"[13] राही ने 'दिल एक सादा कागज़' में स्थानीय रंग उभारने के लिए स्थानीय शब्दों का भी प्रयोग किया है। ग्रामीण पात्रों की बोली में जनभाषा के शब्दों का प्रयोग हुआ है। शहरी पात्रों की भाषा में शहर के शब्दों तथा बोली का प्रयोग हुआ है। इसी कारण उनकी शैली की विविधता, चित्रात्मकता, कलात्मक रूचि को प्रमाणित करने में समर्थ हुई है।

उपन्यासों की भाषा देश-काल एवं वातावरण परिस्थिति तथा पात्रों के सर्वथा अनुकूल है। राही की भाषा में उर्दू की बाहुल्यता के संदर्भ में उल्लेखनीय है कि राही हिंदी और उर्दू को अलग-अलग भाषाएँ नहीं मानते थे। उनका मानना था कि उर्दू और हिंदी दो अलग-अलग साहित्य नहीं हैं। देवनागरी लिपि के माध्यम से अब दोनों की ऐतिहासिक एकता स्थापित हो जानी चाहिए। राही ने अपने उपन्यासों में किंचित अपशब्दों और अश्लील भाषा का प्रयोग करके कथ्य को उसी खुरदरे रूप में प्रस्तुत करना चाहा, जिसके मूल रहस्य और परिणाम से सभी को परिचित होना चाहिए। राही की उक्तियों-सूक्तियों का प्रयोग बीच-बीच में मणि में जैसे सोने का संयोग है। इस प्रकार राही ने परिवेश और पात्र दोनों ही के अनुरूप भाषा गढ़ी है, जो सर्वथा उपयुक्त है। अपनी औपन्यासिक भाषा में उन्होंने देशज, तद्भव तथा आँचलिक शब्दों का प्रयोग करके भाषा को सहज बना दिया है। अतः उनके साहित्य में कहावतों, मुहावरों, लोकोक्तियों तथा सूक्तियों के प्रयोग सहज और स्वाभाविक रूप में प्रयुक्त हुए हैं। उनके उपन्यासों में अधिकांश पात्र अशिक्षित एवं निम्न तबके के व्यक्ति हैं जो अपने दैनिक व्यवहार में मुहावरों, कहावतों आदि के प्रयोग सहजता से करते हैं। यही कारण है कि मुहावरों, कहावतों, लोकोक्तियों तथा उक्तियों के लोक भाषाई रंग से उनका संपूर्ण साहित्य एक नए आनंद की सृष्टि करता है।

राही मासूम रज़ा की भाषा सरल तथा स्वाभाविक बोलचाल की है। पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग तो उनके उपन्यासों की उल्लेखनीय विशेषता है ही, प्रतीकात्मकता भी उनकी भाषा की मुख्य विशेषता है। इस प्रकार राही मासूम रज़ा के उपन्यासों की भाषा का अपना विशिष्ट रूप और सौंदर्य है। सहजता और पात्रानुकूलता उनकी भाषा का मुख्य गुण है। प्रतीकों, बिंबों, लोकोक्तियों तथा कहावतों के माध्यम से राही ने विशेष सौंदर्य प्रदान किया है।

संदर्भः

1. अभिनव कदम, राही की पचहत्तरवीं सालगिरह पर- शिवकुमार मिश्र, पृ. 21-22
2. राही मासूम रज़ा - आधा गाँव- पृ. 114
3. वही, पृ. 342

4. राही मासूम रज़ा – कटरा बी आर्ज़ू, पृ. 46
5. वही, पृ. 46
6. राही मासूम रज़ा – टोपी शुक्ला, पृ. 29–30
7. वही, पृ. 16–17
8. राही मासूम रज़ा–हिम्मत जौनपुरी, पृ. 112
9. वही, पृ. 100
10. राही मासूम रज़ा–ओस की बूँद, पृ. 68
11. वही, पृ. 27–28
12. वही, भूमिका पृ. पर
13. राही मासूम रज़ा – दिल एक सादा कागज़, पृ. 95

❑❑

मुहावरे में ढलते हिंदी सिनेगीत

—राजकुमार व्यास

भाषा को समझने के लिए उसके मुहावरों को समझना अत्यावश्यक है। हिंदी सिने संगीत का हमारी रोज की जिंदगी पर इतना गहरा प्रभाव है कि बहुत सारे सिने-गीतों और उनके बोलों का व्यवहार अब मुहावरों की तरह होने लगा है। संचार माध्यमों के नए स्तर में लिखित के स्थान पर मौखिक संचार का बोलबाला है। अशाब्दिक संचार का एक अलग आयाम है, लेकिन मौखिक संचार ने साक्षरता के संदर्भ को बदल दिया है। प्रस्तुत आलेख में मौखिक संचार के विशेष संदर्भ में हिंदी सिनेमा के लोकप्रिय गीतों के एक खास पहलू का विवेचन किया गया है जो सिने गीतों के बार-बार के दोहराहन से उनकी चयनित शब्दावली के मुहावरे के रूप में व्यवहृत होने से संबंधित है।

मुहावरे की प्रचलित परिभाषा इस प्रकार है– "ऐसा वाक्यांश, जो सामान्य अर्थ का बोध न कराकर किसी विलक्षण अर्थ की प्रतीति कराये, 'मुहावरा' कहलाता है।"[1] सामान्य बोलचाल में मुहावरे जो भूमिका निभाते हैं और उनका जो अर्थ होता है उस अर्थ के ज्ञापन को लोकजीवन सहज ही परंपरा से ग्रहण करता रहता है। इस पृष्ठ भूमि में हिंदी सिनेमा का गीत अपनी पटकथा में विलक्षण अर्थ को ही व्यक्त करने का कार्य करता है।" मुहावरा अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है बातचीत करना या उत्तर देना। ... संस्कृत वाङ्मय में मुहावरा का समानार्थ कोई शब्द नहीं है। कुछ लोग इसके लिए 'प्रयुक्तता', 'वाग्रीति' , 'वाग्धारा', अथवा भाषा संप्रदाय का प्रयोग करते हैं। वी. एस. आप्टे ने अपने 'इंग्लिश-संस्कृत कोश' में मुहावरे के पयार्यवाची शब्दों में 'वाक्-पद्धति', 'वाक् रीति ', 'वाक् व्यवहार और विशिष्ट स्वरूप' को लिखा है। पराड़कर जी ने 'वाक्-संप्रदाय' को मुहावरे का पर्यायवाची माना है। काका साहेब कालेलकर ने 'वाक्-प्रचार' को 'मुहावरे' के लिए 'रुढ़' शब्द का सुझाव दिया है। युनानी भाषा में 'मुहावरे' को 'इडियोमा', फ्रेंच में 'इडियाटिस्मी' और अंग्रेजी में 'इडिअम' कहते हैं।"[2] जनसंचार में शब्दावली के अनेकों संदर्भ ऐसे हैं जो मुहावरे की तरह स्वीकार कर लिए गए हैं। जैसे नए सत्र में महाविद्यालय और विश्वविद्यालय में प्रवेश के लिए जो प्रक्रिया व्यवहार में लाई जाती है, वह विद्यार्थियों और अभिभावकों के लिए बहुत तनावपूर्ण होती है।

उसकी पूरी भागमभाग और रेलमपेल को इलैक्ट्रोनिक मीडिया ने 'दाखिले की दौड़' कहना शुरू कर दिया है। 'दाखिले की दौड़' एक शब्द समूह है और एक मुहावरे की तरह अपने विलक्षण अर्थ की शेष परतें भी खोलता प्रतीत होता है।

संचार में लयात्मकता और आंत्यतिक गीति का महत्व निर्विवाद है, अर्थवत्ता के साथ शैल्पिक सौंदर्य की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। गीत भावाभिव्यक्ति के प्रभावी माध्यम हैं और सिनेमा में भी वे अपनी इस भूमिका का सफल निर्वहन करते हैं– "सिनेमा में गीतों का प्रयोग पहले संप्रेषण को बढ़ाने के लिए किया जाता था ताकि इसमें समग्रता के साथ बात को और स्पष्ट किया जा सके। लेकिन बाद में इसका प्रयोग दृश्य के मूड को और अधिक सघन बनाने के लिए किया जाने लगा।"[3] कथा के भाव संसार की गति और यति दोनों के लिए ही गीतों का प्रयोग होता है। 'इस सिचुएशन में एक गीत चाहिए। यह जुमला तो आमतौर पर हिंदी सिनेमा की स्वीकार्य सैद्धांतिकी में शामिल है। सन् 1931 में प्रदर्शित हिंदी सिनेमा की पहली ही सवाक् फिल्म 'आलमआरा'[4] में सात गीत थे। इनमें वजीर मोहम्मद पर फिल्माया गीत– 'दे दे खुदा के नाम पर प्यारे, ताकत हो गर देने की' हिंदी सिनेमा के पहले गीत के रूप में इतिहास में दर्ज है। अगले बरस प्रदर्शित 'इंद्र सभा'[5] में 69 गीत थे।" भारतीय सिनेमा 1931 में सवाक् हुआ परंतु गीत-संगीत का स्वर्णकाल 1947 से 1964 तक रहा, जब असाधारण प्रतिभा के संगीतकार, गीतकार और गायक गायिका का प्रादुर्भाव हुआ। यह गीत-संगीत भारतीय सिनेमा की स्वतंत्र पहचान है। दुनिया के किसी भी फिल्म बनाने वाले देश में ऐसा नहीं होता। पहले विश्व सिनेमा में गीत-संगीत का मखौल उड़ाते थे। बाद में इसे भारतीय सिनेमा की ऊर्जा मान लिया गया।[6] "यह ऊर्जा अनेक रूपों में व्यक्त हुई। वस्तु और विषय की प्रधानता के स्थान पर उसके वैविध्यपूर्ण प्रस्तुतिकरण की स्वस्थ प्रतियोगिता शुरू हो गई। इस प्रतियोगिता ने अनेक अवसरों पर दोहराहन को बढ़ावा दिया है– "आजकल तो गाने जैसे फैक्ट्री में बनाए जा रहे हैं सब एक जैसे। नब्बे फीसदी गानों के लिए एक ही 'बीट' मुझे तो यह चीज बहुत ही नागवार गुजरती है।"[7] जावेद अख्तर का यह कथन सिनेमा के फार्मूलाबद्ध लेखन की ओर संकेत करता है। फार्मूलाबद्ध फिल्मों का गीत भी फार्मूलाबद्ध ही होगा। जावेद अख्तर को यह बात नागवार गुजरती है फिर भी फार्मूला स्टाइल तो गुजर ही रही है और निभ भी रही है।

गीत वेदना का व्यापार है और इसका नफा-नुकसान वक्त की कच्ची बही में लिखा रहता है क्योंकि पक्की बही तो परमेश्वर ने लिख रखी है। फिल्मी-कथा की भाव संपदा गीतों में व्यक्त होती है। सिने– सैद्धांतिकी के विशेषज्ञ अनेक अवसरों पर गीत की तत्कालिकता को समय और कथा के परिवेश से पूर्णतया मुक्त करके भी देखते हैं– "गीत केवल सहायक नहीं होता वह दृश्य की संवेदना को काफी गहराई तक ले जाता है, बल्कि दृश्य की समसामयिकता को भी तोड़ता है। कभी-कभी फिल्म याद नहीं रहती, लेकिन गीत के बोल मन को दस्तक देते रहते हैं। इसलिए दृश्यानुकूल होने के बावजूद गीतों की दीर्घजीविता बरकरार रहती है।"[8] गीत के रचना पक्ष से अधिक यहाँ उसके लोकप्रिय होने की शर्त ही उसे मुहावरे में ढालती है। यों कहना कि मुहावरे में ढलनेवाला

गीत लिख दीजिए, तो संभव नहीं होगा। गीत जन-आकांक्षा का प्रतिनिधि होता है, तो मुहावरे की तरह उसका बर्ताव शुरु हो जाता है। लिखना कभी भी आसान नहीं रहा है। प्रसिद्ध पत्रिका 'धर्मयुग' में गीतकार शैलेन्द्र से एक लेख लिखने का निवेदन किया गया तो उन्होंने इसके लिए बाकायदा होटल का रूम बुक करवाया। इसी सिलसिले में उन्होंने फिल्म पत्रकार रामकृष्ण से कहा था– "यहाँ महीनों ऐसे होटलों में पड़ा रहा जाता है और उसके बदले में एक लाइन तक नहीं लिखी जाती। फिर तुम्हारे लिए तो मुझे पूरा पन्ना तैयार करना है।"[9] एक लाइन ही जनता की जबान पर चढ़ती है और उस लाइन को साधना बहुत सरल नहीं है– "शब्दों को सेट करना आसान है, मगर उनमें से अर्थ निकालना गीतकार का काम है।"[10] गीतकार के लिए यह अर्थपरक रचना की शर्त ही चुनौती पेश करती है।

कविता समस्त चराचर जगत के सुख-दुख का आत्मीय वक्तव्य है। भाववाद और विचारवाद का आधार और अधिरचना के राजनीति निहतार्थ हैं लेकिन अभिव्यक्त के लिए दोनों की अनिवार्य उपस्थिति स्वीकार की जाती है। इसके लिए प्रचलित शब्दावली का आश्रय ग्रहण करने की अनुशंसा की जाती है। शब्दों के इस आश्रय स्थल पर मुहावरे ही सहयात्रा की हामी भरते हैं– "मुहावरों के बिना ना बोलने की भाषा में जान पड़ती है ना लिखने की ...मुहावरे भाषा को रोचक और गतिशील बनाते हैं और उनके बिना भाषा निस्तेज, नीरस और निष्प्राण हो जाती है।"[11] गतिशीलता और रुचि तो सिनेगीतों की बुनियाद है।" सुपरहिट गीत के लिए आवश्यक है संवाद, कहावत, सरलता और ताल परंतु सबसे आवश्यक बात यह है कि जनमानस का कोई तार झंकृत हो।"[12] जनमानस का तार झंकृत होने का अर्थ ही यह है की साधारण जीवन की मनोदशा को बहुत कोमलता के साथ छुआ जाए। जनता की नस-नस में दुख है और पल-पल में सुख। भारतीय संस्कृति जनमानस की भावनाओं का ऐसा ताना-बाना है कि उसमें ऐसे तारों की कोई कमी नहीं जिसे यदि नफासत से छुआ जाए तो स्वर लहरी अवश्य ही तैरने लगेगी। गरीबी और महँगाई तो आम भारतीय के जीवन की कड़वी सच्चाई है जब जिंदगी का यह कसैला स्वाद गीत बनकर सामने आया तो सभी को अपना सा लगा। कड़वे सच की मधुर प्रस्तुति स्वयं में एक विरोधाभास को जन्म देती है। महँगाई को विषय वस्तु बनाने वाले दो गीत मिसाल हैं– एक तो 'महँगाई मार गई' दूसरा 'महँगाई डायन खाय जात है'। लोकचित्त की भाव दशाओं की अनुभूति और उसकी सहज अभिव्यक्ति ही किसी गीत को लोकप्रिय बनाती है। सिनेमा की भाषा में इन्हें चार्ट बर्स्टर कहा जाता है।

भारतीय साहित्य की अजस्र प्राणधारा ही इसकी प्रमाण है कि यहाँ अभिव्यक्ति के शिल्प और कथ्य का कोई अकाल नहीं है। सिनेमा ने केवल माध्यम की चुनौती प्रस्तुत की है शेष आधार यथावत है। सत्यजीत रे का यह कथन व्यापकता के इस बोध को पुष्ट करता है– "तेजी से बदलते इस युग में सिनेमा के संबंध में कोई अंतिम टिप्पणी बेशक नहीं की जा सकती, फिर भी एक बात बलपूर्वक कही जा सकती है कि भारतवर्ष में पार्श्व संगीत रचनाकारों की समस्या दैन्य की समस्या नहीं है। समस्या है प्राचुर्य की।"[13] महाकाव्य पीड़ा का दार्शनिक बोध भी संसार की सारता-असारता

का द्वंद्व सामने रखता है— "कुछ कथाएँ पारस की तरह अपने बनाने वाले को ही बदल देती हैं, सांस्कृतिक प्यास को रेखांकित करनेवाली 'प्यासा' दुनियादारी, सफलता, संपदा इत्यादि के खोखलेपन को उजागर करती है। इसी फिल्मी में भौतिक सफलताओं की दहलीज पर खड़ा नायक स्वयं सारे द्वार बंद कर देता है। वह गाता है— 'यह दुनिया अगर मिल भी जाए तो क्या है..'"[14] इसी के विपरीत सुख का संदर्भ भी है जो जीवन तट पर आनंद और उत्सव की लहरियों की स्वीकार्यता को व्यक्त करता है— 'अपनी तो पाठशाला मस्ती की पाठशाला' फिल्म 'रंग दे बसंती' का यह गीत यौवन की मस्ती और उसके अमूर्त भाव की ओर संकेत करता है। फिल्म का नाम भी एक मशहूर गीत— 'रंग दे बसंती चोला' से लिया गया है। यहाँ जीवन को ही पाठशाला कहा गया है और मस्ती इस पाठशाला की विशेषता है। यदि जीवन ही पाठशाला है तो कोई नामांकन या प्रवेशोत्सव अपेक्षित नहीं है। यहाँ कोई अनपढ़ नहीं है, जिंदगी सबको सबक सिखा ही देती है— "जिस प्रचार माध्यम को समाज उपेक्षित समझता है, उसके पुरजोर असर से इनकार नहीं किया जा सा सकता है। साहित्य की दूसरी विधाओं की अपेक्षा फिल्में लाखों अनपढ़ों तक अपनी बात आसानी से कह जाती है। ....हकीकत में फिल्म और समाज के बीच एक अंदरुनी रिश्ता रहा है।"[15] शैक्षणिक संस्थानों की नियामक इकाइयों की साक्षरता की परिभाषाओं से परे सिनेमा अनपढ़ नागरिक तक भी अपनी बात सहजता से पहुँचा रहा है। "बनार्ड शॉ ने सिनेमा के दूरगामी भविष्य को रेखांकित करते हुए कहा था— 'देश की चेतना, देश के आदर्श और आचरण की कसौटी वही होगी, जो सिनेमा की होगी। शॉ के इस कथन में शिक्षित-अशिक्षित वो समाज केंद्र में था, जो सिनेमा से दूर न रहने को विवश था।"[16] आज के समय में कहा जा सकता है कि सिनेमा सर्वत्र है। उसकी भाषा ग्राह्य है और इसीलिए वह अपनी सर्व-स्वीकार्यता में ही मुहावरे गढ़ रही है।

समय के साथ सामाजिक और राजनीतिक परिवेश भी बदलता है। एक समय विशेष का अनुभव और अभिव्यक्ति किसी अन्य कालखंड में बेमानी हो जाती है। शब्द में निहित अर्थ के उद्घाटन के सभी प्रचलित सिद्धांतों में समय का आयाम सबसे महत्वपूर्ण है— "सन् 1956 में प्रदर्शित 'जागृति' में शिक्षक बच्चों से कहता है 'हम तूफानों से लाए हैं कश्ती' निकाल के, मेरे देश को रखना मेरे बच्चो सम्हाल के।' (हम लाए हैं तूफान से कश्ती निकाल के, इस देश को रखना मेरे बच्चो सँभाल के) जावेद अख्तर फरमाते हैं कि स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेने वाली पीढ़ी यह कह सकती थी कि 'तूफां से कश्ती' निकाल कर लाए हैं, पर आज युवा पीढ़ी से यह बात मध्य की पीढ़ी कैसे कह सकती है? आज तो सब मिलकर कश्ती (देश) को तूफान में धकेल रहे हैं।"[17] यहाँ तूफान से कश्ती निकालकर लाना' एक उक्ति है लेकिन अपने अंतर्निहित अर्थ के कारण इसका व्यवहार एक मुहावरे की तरह हो रहा है। भाषाशास्त्री डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार— "मुहावरे भाषा की समृद्धि और सभ्यता के विकास के मापक हैं। इनकी अधिकता और न्यूनता से भाषा के बोलनेवालों के श्रम, सामाजिक संबंध, औद्योगिक स्थिति, भाषा निर्माण की शक्ति, सांस्कृतिक योग्यता, अध्ययन, मनन और आमोदक भाव, सबका एक साथ पता चलता है। जो समाज जितना अधिक व्यावहारिक और कर्मठ होगा, उसकी भाषा में इनका प्रयोग उतना ही अधिक होगा ...समाज

और देश की तरह मुहावरे भी बनते-बिगड़ते हैं। नए समाज के साथ नए मुहावरे बनते हैं।"[18] उक्त उद्धरण के अन्यान्य संदर्भों से परे आमोदक भाव सिनेगीतों की मुहावरा गढ़ने की क्षमता को रेखांकित करता है।

सिनेमा आधुनिक युग में विकसित ललित कला है और उसका लालित्य उसकी संप्रेषण की अनूठी शैली में है। सिनेमा और उसके गीतों ने बहुत अवहेलना झेली लेकिन शास्त्र और लोक के द्वंद्व में लोक का पक्ष बहुलतावादी और समावेशी है। मुहावरे और कहावत लोकजीवन में जन्मते हैं, आकार लेते और लोकस्मृति के स्थाई स्मारक की तरह कालजयी हो जाते हैं। "मशहूर नाट्यकर्मी सत्यदेव दुबे ने एक बातचीत में कहा था कि फिल्मी गीत हमारे शहरी जीवन के लोकगीत हैं। पता नहीं दुबे की यह धारणा कहाँ तक सच है लेकिन इतना तय है कि पिछली आधी शताब्दी से फिल्मी गीतों ने इस देश के जनसाधारण को अपनी गिरफ्त में ले रखा है। सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते यानी जीवन के हर मोड़ पर फिल्मी गीत हमारा पीछा करते हैं। यह कहना गलत नहीं होगा कि अपने देश में फिल्मों से ज्यादा लोकप्रिय उसका संगीत है।"[19]

मुहावरे भाषा को चित्रमयी और प्रभावी बनाते हैं। चित्र के लिए चित्रपट से आधार सामग्री लेना स्वाभाविक है। चित्रपट संगीत ने धुनों, शब्दावली और स्वरों के साथ जनमानस पर स्थाई प्रभाव कायम कर लिया। सामान्य श्रोता की स्मृति में ऐसे अनगिनत गीत हैं, जो वह लंबे समय से गुनगुनाए जा रहे हैं लेकिन उसे यह मालूम ही नहीं है कि यह गीत किस कलाकार पर फिल्माया गया है। यह सिनेमा के दृश्य संसार की श्रव्य संपत्ति है। सिनेगीतों की लोकप्रियता में रेडियो सीलोन की बड़ी उल्लेखनीय भूमिका है। विख्यात सिनेमेटोग्राफर इस भूमिका को इन शब्दों में याद करते हैं– "दरअसल कई वर्षों तक भारतीय फिल्म संगीत ऑल इंडिया रेडियो में प्रतिबंधित था क्योंकि इस संगीत में हारमोनियम का प्रयोग होता था। रेडियो सीलोन और अमीन सायानी के उदय का यही राज है। हिंदी फिल्म संगीत पर आधारित किसी कॉमर्शियल की यह पहली शुरुआत थी।"[20] फिल्मी संगीत का यह कार्यक्रम एक बार शुरु हुआ तो लोगों ने रोमांच की हद तक इसे पसंद किया और सिने संगीत की लोकप्रियता में इसका अविस्मरणीय योगदान है– "फिल्मों के गाने लोकप्रिय होने में समय लगता है। जब वे बार-बार बजते हैं तब पब्लिक की जबान पर चढ़ते हैं। इसलिए कोई गाना, जो पहली बार सुना हो, आम दर्शक को कई बार उस समय तो अच्छा नहीं लगता, पर बाद में वही पसंद आ जाता है।"[21] गीत के बार-बार बजने और बार-बार सुनने की प्रक्रिया में उसके भाव-सौंदर्य के विविध फलक खुलने लगते हैं। यही उसे पहले लोकप्रिय बनाते हैं और फिर वह साधारण जन की उक्तियों में असाधारण स्थान का अधिकारी हो जाता है।

सरलता गंतव्य नहीं यात्रा है, जहाँ यह भाव उपजा की हम तो पहुँच गए वहीं सरलता साथ छोड़ देती है और काल की कठोरता महसूस होने लगती है, जीवन का प्रवाह बाधित होने लगता है। सरलता भारतीय जीवन मूल्य है और हिंदी सिने गीतों के शिल्प का आधार है– "हिंदी गीतकारों में केवल रामचंद्र नारायण द्विवेदी उर्फ प्रदीप जी ऐसे गीतकार थे जिनका मानस और सृजन सौ प्रतिशत

भारतीय था। उनके गीतों के बोल और भाव आम आदमी के दिल से निकले हुए लगते थे। शैलेन्द्र और महान साहिर विदेशी गीतकार नहीं थे और आम आदमी को बखूबी समझते थे परंतु उन्हें विदेशी साहित्य का ज्ञान था और लिखते समय उस साहित्य के मुहावरे भी उनके दिमाग के किसी सूक्ष्म और अंधेरे कोने में मौजूद होते थे।"[22] गीत के लेखन की रचना प्रक्रिया पर मुहावरे का प्रभाव होता है यह इस कथन से स्पष्ट है। यह दीगर बात है कि मुहावरे भारतीय हों या पाश्चात्य मुहावरे की प्रेरणा से रचा गया साहित्य मुहावरे जैसा ही हो जाता है थोड़ा कम अथवा थोड़ा ज्यादा। यहाँ अपने गीत के मुहावरे को चला लेने का दावा कोई नहीं कर सकता ऐसा कभी-कभी ही होता है और वह भी लोकमानस में उस खास शब्द समूह की स्थापना से। जयप्रकाश चौकसे परदे के पीछे कॉलम में लिखते हैं— "पूरा देश बौरा जाए ऐसे गीत कभी-कभी ही सामने आते हैं।"[23] इसी कॉलम में उन्होंने बताया कि— "कनाडा में क्रिकेट मैच के पहले सुनील गावस्कर ने हास्य के लहजे में तेंडुलकर के अनुपलब्ध होने के बारे में कहा कि सचिन ने अपनी पत्नी से पूछा 'आती क्या खंडाला' जवाब मिला कशाला खंडाला।"[24] यह गीत की लोकप्रियता और उसकी व्याप्ति का अनोखा उदाहरण है।

सिनेमा व्यतीत का आख्यान है लेकिन उसमें बीता हुआ अपने प्रस्तुतिकरण में वर्तमान की तरह लगता है— "फिल्म विचारक आले राब्ब ग्रिए ने 'वर्तमान के आख्यान में काल की स्थिति' का विवेचन करते हुए कहा— "वह परिवेश जिसमें की समुचित स्वयं घूमती है, वह स्वभावत: ऐसे सनातन वर्तमान का है जिसमें स्मृति के किसी प्रसंग का कतई कोई वास्ता नहीं। यह वह संसार है जो कि अतीतहीन है, जो पल-प्रतिपल स्वयं समर्थ है और चलते-चलते खुद-ब-खुद मिटता जाता है। पुरुष और नारी कि जब तक वे पहली बार पर्दे पर दिखाई नहीं देते, तब तक वह अस्तित्व में आना आरंभ नहीं करते, उसके पूर्व में कुछ भी नहीं थे और जिस क्षण फिल्म आरंभ-समाप्त होती है वे पुन: कुछ भी नहीं हैं।"[25] यह दीप्त-संसार तुरंत ही तिरोहित हो जाता है, लेकिन हमारी स्मृति में रहता है। स्मृति में ही गीत भी रहते हैं और इसलिए वे हमारी भावाभिव्यक्ति में सहायक होते हैं।

अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए महाकाव्यकार मार्मिक प्रसंगों की आयोजना करता है वैसे ही सिनेमा में मार्मिक प्रसंगों के लिए गीतों की आयोजना का विधान है। "गानों में बोलों की गहराई के लिए संगीतकार नौशाद[26] गीतकार के महत्व को स्वीकार करते हैं तो बप्पी लहरी का मत बहुत ही अलग है— संगीतकार बप्पी लहरी ने भी इसी तरह का पॉइंट उठाया था जिस पर चर्चा रुचिकर होती, प्रकाशनीय होती। उनका कहना था कि फिल्म में गानों में महत्व सिर्फ धुन का होता है, शब्द रचना कोई मायने नहीं रखती। अपनी बात के पक्ष में उनका उदाहरण था यह गाना, 'रमय्या वस्ता वैया, रमय्या वस्ता वैया, ...मैंने दिल तुझको दिया...' बप्पी का कहना था कि यह गाना तो कई दशक पहले बना था सिर्फ इसलिए आज तक लोकप्रिय है कि इसकी धुन आसान, मधुर और जबान पर चढ़ सकने लायक है। इसके वड्र्स को देखिए, उनका मतलब किसे पता है? बप्पी का तर्क यह भी था कि अगर वड्र्स इंपॉर्टेंट होते तो लोग फिल्मी गाने गुनगुनाने की जगह महादेवी वर्मा और सूर्यकांत निराला जी की रचनाएँ गुनगुनाया करते।"[27] हिंदी की कविताओं ने अपनी गेयता के

कारण ही जन मानस में अपनी जगह बनाई है भक्तिकाल की रचनाएँ वाचिक परंपरा में गीति-तत्व के कारण ही प्रसारित हो सकीं हैं। 'रमय्या वस्ता वैया' इतनी लोकप्रिय रचना थी कि बाद में इसी नाम से एक फिल्म भी प्रदर्शित हुई।

मार्मिक प्रसंगों के लिए काव्य-भाषा का सहारा लेना अभिव्यक्ति की पुरानी शैली सिद्ध हो गई है, सिनेमा के लालित्य और उसकी मुखरता ने गीतों की अनिवार्यता को भी चुनौती दी है। कुछ ऐसी फिल्में भी हैं जिनमें गीत हैं ही नहीं। इनमें 'नौजवान' (1937) का नाम सबसे पहले लिया जाता है। गीतों भरी फिल्मों की तरह यह फिल्में भी सफल रही हैं। इससे एक कदम आगे 'पुष्पक' (1991) तो संवाद रहित फिल्म थी। फिल्म समीक्षा के सिद्धांतों की अनेक जटिलताएँ उनका सामर्थ्य फिल्म के आस्वाद की राह दिखाता है तो सीमाएँ नए अन्वेक्षण को प्रेरित करती हैं। लोकमन की नम भूमि पर जो भाव अंकुरित हो जाता है, उसका शब्द-समूह वाग्धारा में प्रवाहित होने लगता है और सिनेगीत वाग्वेश्वरी की साधना के सबसे नवीनतम पुष्प हैं और लोक में बसी उनकी गंध ही उनका मुहावरा हो जाना है।

संदर्भः

1. डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, मुहावरे और लोकोक्तियाँ, आधुनिक हिंदी व्याकरण और रचना, पृ. 254, संस्कारण-2010
2. हरीवंश राय शर्मा, राजपाल मुहावरा कोश, पृ. 9, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली, संस्करण-1999
3. राधू करमाकर, मीठे गीतों का स्वर्ण युग, कैमरा मेरी तीसरी आँख, अनुवाद-विनोद दास, पृ. 141, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2010
4. शिवानद कामडे, हिंदी की पहली फिल्म होने का गौरव, हिंदी सिनेमा बीसवीं सदी से इक्कीसवीं सदी तक, संपादक-प्रहलाद अग्रवाल एवं अन्य, पृ. 26-27, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण-2009
5. वही, पृ. 31
6. जयप्रकाश चौकसे, हिंदुस्तानी मायथालॉजी और मिथ, सिनेमा और सिनेमावाले, पृ. 9,बोधि प्रकाशन, जयपुर, संस्करण-2013
7. जावेद अख्तर, सिनेमा के बारे में... जावेद आख्तर से नसरीन मुन्नी कबीर की बातचीत, पृ.127, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2007
8. अरुणकुमार, फिल्मी गीतों का शिल्प, सिनेमा और हिंदी सिनेमा, पृ. 116, राजस्थान पीपुल्सर हाउस प्रा. लिमिटेड, जयपुर, संस्करण-2007
9. रामकृष्ण, सिने संसार और पत्रकारिता, पृ. 124, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्करण-2006
10. दिलचस्प, ये गाना है ना बजाना है, हिंदी सिनेमा के 100 वर्ष, पृ. 147, भारतीय पुस्तक परिषद, नई दिल्ली, संस्करण-2011

11. हरीवंश राय शर्मा, राजपाल मुहावरा कोश, पृ. 9, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली-6, संस्करण-1999
12. जयप्रकाश चौकसे, आती क्या खंडाला, परदे के पीछे, पृ. 56, न्यू ऐरा पब्लिकेशंस, संस्करण-2004
13. सत्यजित रे, धारावाहिक पार्श्व संगीत के प्रसंग में, विषय चलचित्र, डॉ. रमाशंकर द्विवेदी (बांग्ला से अनुवाद), पृ. 101, रेमाधव पब्लिकेशन्स प्राइवेट लि., संस्करण-2007
14. जयप्रकाश चौकसे, गुरुदत्त की दिमागी कशमकश और रुहानी प्यास, सिनेमा और सिनेमावाले, पृ. 29, बोधि प्रकाशन, जयपुर, संस्कारण-2013
15. अरुणकुमार, फिल्मी गीतों का शिल्प, सिनेमा और हिंदी सिनेमा, पृ. 8, राजस्थान पीपुल्स हाउस प्रा. लिमिटेड, जयपुर, संस्करण-2007
16. लीलाधर मंडलोई, फ्लैप, फिल्म का सौंदर्यशास्त्र और भारतीय सिनेमा (सं- कमला प्रसाद), शिल्पायन, दिल्ली, संस्करण-2010
17. जयप्रकाश चौकसे, जावेद अख्तर आज की आवाज, परदे के पीछे, पृ. 35, न्यू ऐरा पब्लिकेशंस, संस्करण-2004
18. डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, मुहावरे और लोकोक्तियाँ, आधुनिक हिंदी व्याकरण और रचना, पृ. 255, संस्करण-2010
19. कृष्ण कल्पित, पार्श्व गायन की आधी सदी, छोटा परदा बड़ा परदा, पृ. 9, कलमकार प्रकाशन, जयपुर, संस्करण-2003
20. राधू करमाकर, मीठे गीतों का स्वर्ण युग, कैमरा मेरी तीसरी आँख, अनुवाद-विनोद दास, पृ. 141, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2010
21. विनोद तिवारी, फिल्म पत्रकारिता, फिल्मी रसास्वादन अन्य पक्ष, पृ. 84, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2007
22. जयप्रकाश चौकसे, प्रदीप जी देशी ठाठ के नुक्कड़ कवि, परदे के पीछे, पृ. 59, न्यू ऐरा पब्लिकेशंस, संस्करण-2004
23. जयप्रकाश चौकसे, आती क्या खंडाला, परदे के पीछे, पृ. 55, न्यू ऐरा पब्लिकेशंस, संस्करण-2004
24. वही, पृ. 55
25. कमला प्रसाद, पूर्व कथन, फिल्म का सौंदर्यशास्त्र और भारतीय सिनेमा (सं-कमला प्रसाद), शिल्पायन, दिल्ली, संस्करण-2010
26. विनोद तिवारी, फिल्म पत्रकारिता, फिल्म रसास्वादन अन्य पक्ष, पृ. 85, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2007
27. वही, पृ. 85

❑❑

इस अंक के लेखक

पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'	'सांईकृपा' 58, लाल ऐविन्यू, डाकघर–छेहर्टा–143105, अमृतसर (पंजाब), मो. 09878647468 ई–मेल: shitasnshu.shashibhushan@yahoo.com
विमलेश कान्ति वर्मा	वैशाली, पीतमपुरा, दिल्ली–110034, ई–मेल: vimleshkant@gmail.com
अम्बरीश त्रिपाठी	सहायक प्राध्यापक शासकीय महाविद्यालय, मचांदुर दुर्ग, मो. 7489164100, ई–मेल: amba82@gmail.com
राम किशोर	शोधार्थी, जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली–67
बिपिन कुमार	असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी, मो. 8765625611, ई–मेल: hipink317@gmail.com
दानबहादुर सिंह	कोठी नं. 03/16/03, ए.जी. कॉलेज रोड, पड़रा रीवा–486001 (म.प्र.), मो.: 9713834483
सपना शर्मा	असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, गुरु नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर (पंजाब), मो. 9872580935
जगदीश गिरी	सहायक आचार्य, हिंदी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
अम्बिका उपाध्याय	असिस्टेंट प्रोफेसर, के. पी. एस. कॉलेज, मुण्डेसी, मथुरा मो. 8384857475, ई–मेल: ambikaupa1@gmail.com
सुरेन्द्र सिंह यादव	शोधार्थी, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, मो. 9910767697, 8810582744 ई–मेल: chetanlta@gmail.com
तृष्णा दत्त	शोधार्थी, तेजपुर विश्वविद्यालय, असम
मयंक मिश्रा	101, कुसुम विला अपार्टमेंट, महेश टॉवर के बगल में, बलदेव भवन रोड, पुनाईचक, पटना–800023 मो. 8521858613, 9883429728

ससिकला ए.वी.	असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, कन्नूर विश्वविद्यालय
नीरज	भारती कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय ई-मेलः niraj1308@gmail.com
बीरू लाल बरगाह	सहायक प्राध्यापक, राजीव गांधी शास महाविद्यालय, सिगमा, जिला-बलौदाबाजार (छ.रा.), मो. 9589914278, ई-मेलः birulalbargah@gmail.com
निवेदिता प्रसाद	शोधार्थी, हिंदी विभाग, काशी हिंदी विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005 मो. 9015928785, ई-मेलः nivedita1995prasad@gmail.com
मोनिका कुमारी	शोधार्थी, हिंदी विभाग, तिलकामांझी, भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर, मो. 9931585830, ई-मेलः monikakajha801@gmail.com
राजकुमार व्यास	सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान), मो. 9928788995, ई-मेलः rajkumarvyas@gmail.com

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

केंद्र : दिल्ली, हैदराबाद, गुवाहाटी, शिलांग, मैसूर, दीमापुर, भुवनेश्वर, हमदाबाद

सदस्यता शुल्क फार्म

महोदय,

कृपया '**गवेषणा**' पत्रिका की वार्षिक सदस्यता प्रदान करें।

ग्राहक का नाम...

पता...

....

दूरभाष......................................ई-मेल (यदि कोई हो)......................................

'गवेषणा' एक वर्ष का शुल्क

'गवेषणा' एक वर्ष 150.00 (भारत में)
प्रति अंक . रु. 40.00 (भारत में)
संस्थागत वार्षिक शुल्क रु. 250.00
US$ 40.00 (विदेश में)
प्रति अंक रु. $ 10.00 (विदेश में)

(पंजीकृत डाक से मंगाने के लिए वार्षिक शुल्क के साथ रु. 100/- डाक व्यय अतिरिक्त)

मैं ....राशि का बैंक ड्राफ्ट सं........................दिनांक............
रु./US$ ....बैंक...

वार्षिक सदस्यता शुल्क भिजवा रहा हूँ।

पया सदस्यता शुल्क **सचिव, केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल, आगरा** के नाम से केवल बैंक ड्राफ्ट से निम्नलिखित पते पर भिजवाएँ –

संपादक 'गवेषणा'
प्रकाशन विभाग
केंद्रीय हिंदी संस्थान
हिंदी संस्थान मार्ग
आगरा (उ.प्र.) भारत, पिन-282005
फोन-0562-2530684/2530705/2530159
फैक्स -2530159/2530684

हस्ताक्षर और मुहर (केवल संस्थाओं के लिए)
दिनांक................
नाम...................

लेखकों से निवेदन

- 'गवेषणा' में प्रकाशन के लिए भेजे गए आलेख अनिवार्य रूप से शोध प्रारूप (फॉर्मेट) में हों, साथ ही प्रत्येक स्थापना प्रमाण पुष्ट हो। उसके स्रोत/संदर्भ का उल्लेख के अंत में पूर्ण रूप से हो, यथा–लेखक नाम/पुस्तक/प्रकाशक/संस्करण/वर्ष/पृष्ठ आदि।
- शोध आलेख के विषय–प्राचीन लुप्तप्राय: साहित्य संपदा, भूले–बिसरे रचनाकार/कृति/युग प्रवृत्ति, विचारधारा, विद्या, शिल्प विधि आदि से संबंधित हो सकते हैं। इनके अलावा क्षेत्र सर्वेक्षणपरक अध्ययन, लोक साहित्य संकलन–विश्लेषण, जनपक्षीय साहित्य–समीक्षा, भाषिक प्रयुक्ति, अंतर्विद्यापरक विवेचन, विश्व साहित्य, साहित्येतिहास के पुनर्लेखन आदि विषयों के शोध आलेखों को प्राथमिकता दी जाएगी।
- वर्तनी तथा पारिभाषिक शब्दावली केंद्रीय हिंदी निदेशालय एवं वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग द्वारा मानक रूप ही शोध आलेखों में प्रयुक्त करें।
- आलेख Krutidev010 में टाइप कर वर्ड एवं पी.डी.एफ. दोनों रूप में गवेषणा के मेल पर भेजें।
- आलेख मौलिक एवं अप्रकाशित है, इस आशय का पत्र साथ भेजें।
- रिव्यू कमेटी के अनुमोदन के पश्चात लेख प्रकाशन प्रक्रिया में जाएगा, अतएव इस प्रक्रिया में समय लग सकता है।
- आलेख में व्यक्तिगत अप्रिय आक्षेप, दलीय, संकीर्ण, मतवाद एवं असंसदीय भाषा वर्जित है।
- प्रकाशित अंक की प्रति रजिस्टर्ड डाक द्वारा आपके पते पर भेजी जाएगी, अतएव हमेशा पूरा पता लिखें।
- आलेख प्रकाशन का मानदेय आपके नाम के बैंक अकाउंट में ऑनलाइन किया जाएगा। अतएव अकांउट नंबर और IFSC नंबर उपलब्ध कराना आवश्यक है।
- अत्यधिक आवश्यक स्थिति में ही संपर्क ईमेल (गवेषणा) पर करें।

—संपादक, गवेषणा

केंद्रीय हिंदी संस्थान से प्रकाशित होने वाली पत्रिकाएँ

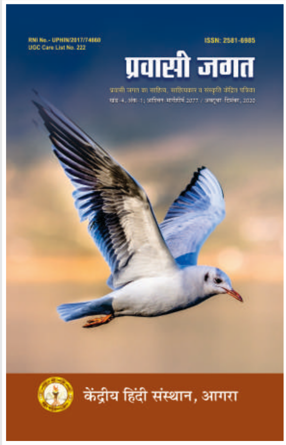

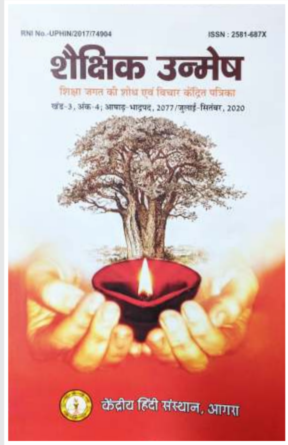

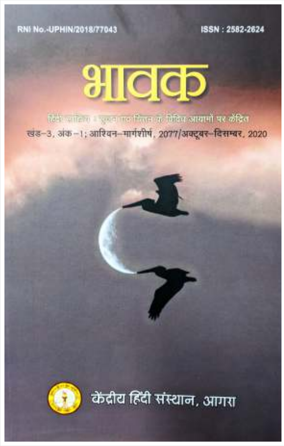

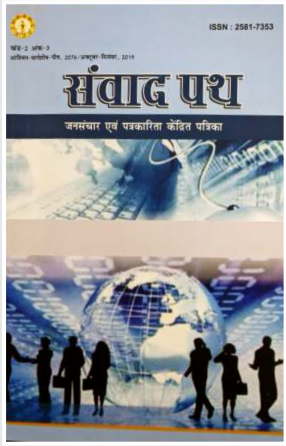

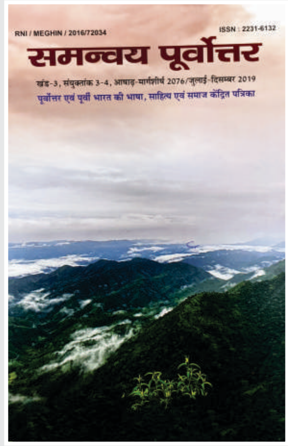

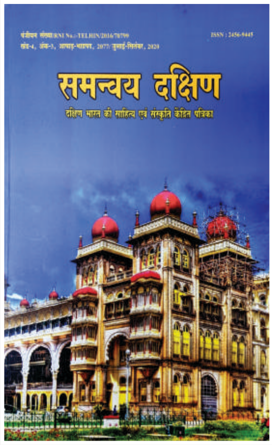

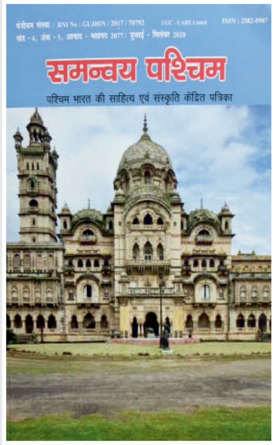

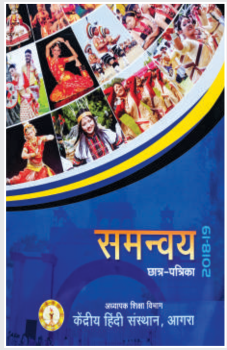

संस्थान से प्रकाशित नवीनतम अध्येता कोश

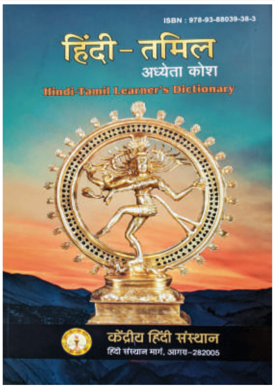

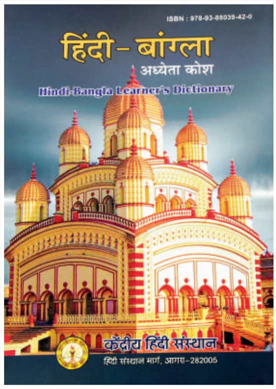

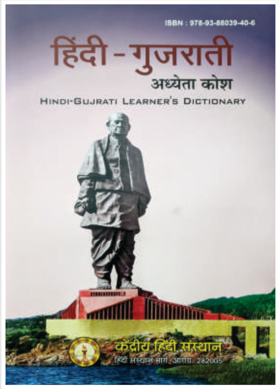

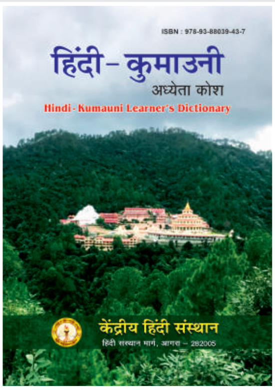

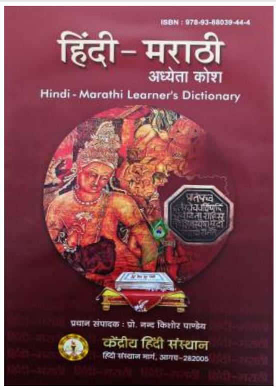

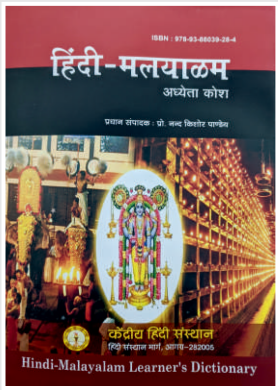

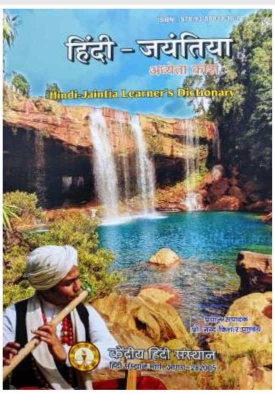

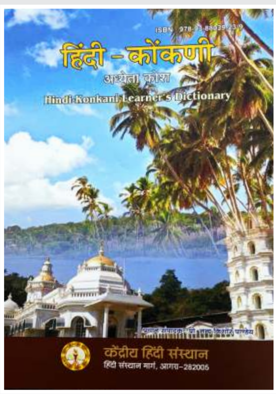

मुद्रक राष्ट्रभाषा ऑफसेट प्रेस, आगरा तथा प्रकाशक डॉ. ज्योत्स्ना रघुवंशी, विभागाध्यक्ष, अनुसंधान एवं भाषा विकास विभाग, केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा द्वारा सचिव, केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल, आगरा के पक्ष में 26/470 बल्का बस्ती, राजा की मंडी, आगरा (मुद्रण स्थल) से मुद्रित तथा केंद्रीय हिंदी संस्थान, हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा-282005 (उ.प्र.) (प्रकाशन स्थल) से प्रकाशित, संपादक डॉ. ज्योत्स्ना रघुवंशी।